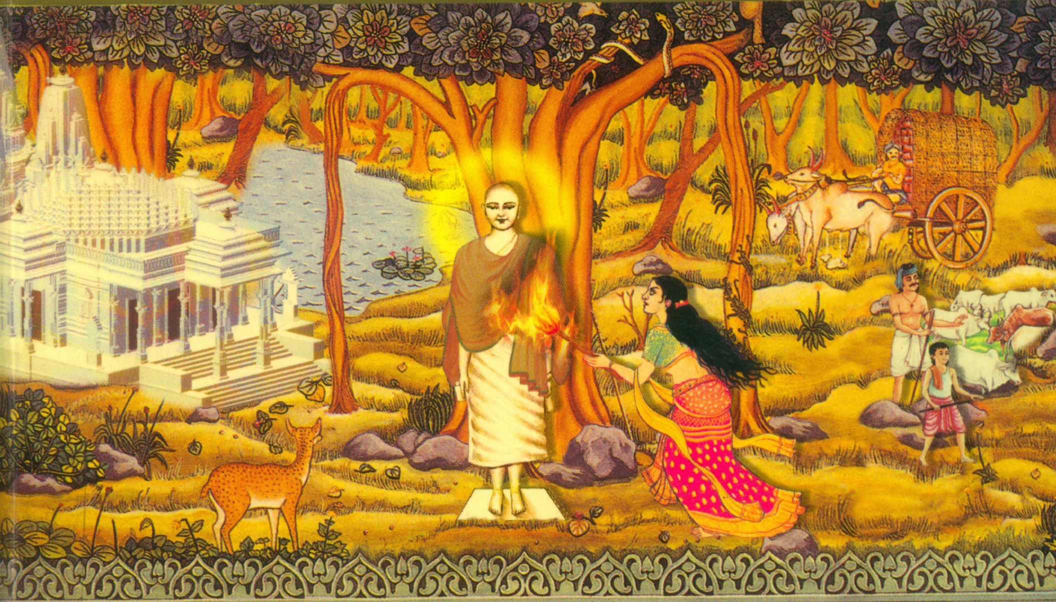

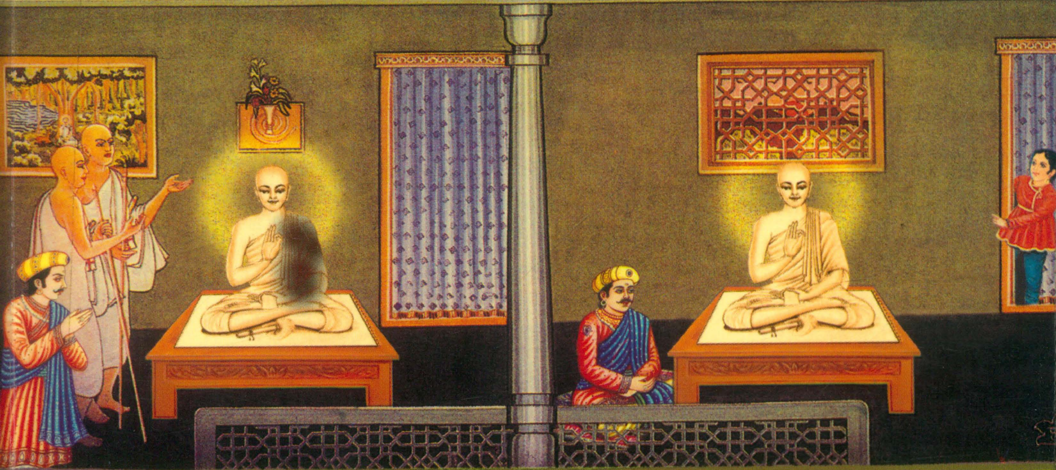

पूर्वाचार्यकृतम्

श्री मुनिपतिचरित्रम्

.. संपादक-संशोधक ..

मुनिराजश्रीजयानंदविजयः एवं गुणानुरागिमुनिभगवन्तः

।। श्री शङ्खेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ।।

।। प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

पूर्वाचार्यकृतम्

श्री मुनिपतिचरित्रम्

.. दिव्याशीष ..

श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी • मुनिराजश्रीरामचंद्र विजयजी

.. संपादक–संशोधक ..

मुनिराजश्रीजयानंदविजयः एवं गुणानुरागिमुनिभगवन्तः

.. प्रकाशिका ..

गुरुश्रीरामचन्द्रप्रकाशनसमिति, भीनमाल, (राज.)

.. मुख्य संरक्षक ..

मुनिराज श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में

वि. २०६५ में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा,

द्रव्य सहायक

आ. श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी
के शिष्य एवं
मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी
के कृपापात्र

चातुर्मास प्रारंभ
आषाढ सुदि १३ बुधवार,
१६/७/०८
चातुर्मास समापन
कार्तिक सुदि १४ गुरुवार,
१३/११/०८

मुनिराज श्री
जयानंदविजयजी

मुनि श्री दिव्यानंदविजयजी
मुनि श्री वैराग्यानंदविजयजी
मुनि श्री तत्त्वानंदविजयजी
मुनि श्री रैवतचंद्रविजयजी
मुनि श्री अमृतविजयजी आदि ठाणा एवं
राष्ट्रसंत शिरोमणी आ. श्री हेमेन्द्रसूरीश्वरजी के
आज्ञा. शा. दी. प्र. वि. साध्वीश्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्याएँ

सा. श्री कुशलप्रभाश्रीजी
सा. श्री कीर्तिप्रभाश्रीजी - सा. श्री वसंतबालाश्रीजी
सा. श्री मुक्तिप्रज्ञाश्रीजी - सा. श्री मुक्तिरत्नाश्रीजी
सा. श्री मुक्तिदर्शिताश्रीजी - सा. श्री मुक्तिरिद्धिश्रीजी
सा. श्री मुक्तिसिद्धिश्रीजी - सा. श्री मुक्तिप्रियाश्रीजी

आदि ठाणा का शाश्वत तीर्थ शत्रुंजय क्षेत्रे पालीताना नगरे २०६५ में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय की ज्ञान खाते की आय में से...

लेहर-कुंदन ग्रुप

मेंगलवा, मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी कुंदनमलजी बालगोता परिवार मेंगलवा...

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) दोशी अमृतलाल चीमनलाल पांचशो वोरा थराद पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते।

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं., तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडामें चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान्
'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर A.P.

(१४) एक सद्‌गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मितुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो.नं.-१०८, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा. लि.-५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) कुंदन ग्रुप, मेंगलवा, चेन्नई, दिल्ली, मुंबई.

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्‌गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली.

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हृितिक, आहोर। कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना नं.२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार - आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - ६०० ०७९.

(४०) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज़, सुन्दर फर्नीचर, ७९४ सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(४१) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता-परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.) जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापली-५३१ ००१.

(४२) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दाँसपा, मुंबई.

सह संरक्षक

(१) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(३) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.)-फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१

(४) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

(६) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(७) शा. ताराचन्दजी भोनाजी, आहोर. महेता नरेशकुमार एन्ड कुं. 1st, भोइवाडा लेन, गुलालवाडी, मुंबई-२.

(८) श्रीमती फेन्सीबेन सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन कलेक्शन, नं-५ चांदी गली, ३रा भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२.

(९) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स, के. सी. आई. वार्यर्स प्रा. लि. १६३, गोविंदाप्पा, नायकन स्ट्रीट, चेन्नई-६०००01.

(१०) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार - थराद.

(११) शा जेठमलजी सागरमलजी की स्मृति में मुलचंद, महावीरकुमार, आयुषी, मेहुल, रियान्सु, डोली, प्रागाणी ग्रुप-संखलेचा, मेंगलवा. राज रतन एसेंबली वर्क्स, १४६/११६९, मोतीलाल नगर नं.-१. सांई मंदिर के सामने, रोड नं.-३, गोरेगांव (वेस्ट), मुंबई-१०४. संखलेचा मार्केटींग, ११-१३-१६, समाचारवारी स्ट्रीट, विजयवाडा-१.

अनुक्रमणिका

क्रम	कथाका नाम	पेज नं.
०१	तिलभट्ट धनश्रियोः कथा	०४
०२	कुञ्चिकश्रेष्ठिअच्चङ्कारिभट्टायोः कथा	०६
०३	परिव्राजकस्यः कथा	१०
०४	सेचनकहस्तिनः कथा	१३
०५	शुक्ल-कृष्णपाक्षिकराज-मन्त्रिकथा	१४
०६	श्री सुहस्तिसूरे शिष्याणां कथा (तदन्तर्गत श्रेणिक कथा)	२०
०७	सेडुकविप्रस्य कथा	२१
०८	नवदुर्गादेवीयक्षयोः कथा	२६
०९	दर्दुराङ्कदेवस्य कथा	२८
१०	आरोहकहस्तिपकस्य कथा	३२
११	तापसस्य कथा	३२
१२	ब्रह्मदत्तचक्रिणः कथा	३३
१३	श्री सुहस्तिसूरेः शिष्याणां कथा	३८
१४	(A) प्रथम शिवमुनेः कथा	३८
१५	(B) सुव्रतसाधोः कथा	४०
१६	(C) जोयणश्रमणस्य कथा	४३
१७	(D) धन्यनिर्ग्रन्थस्य कथा	४५
१८	मृगेन्द्र कथा	४८
१९	मेतार्य मुनि कथा (तदन्तर्गत चन्द्रावतंसक कथा)	५०
२०	मेतार्यमुनेः कथा	५४

२१	सुकुमालिकायाः कथा	५७
२२	भद्रवृषभस्य कथा	६०
२३	गृह गोधायाः कथा	६२
२४	सुबुद्धिमन्त्रिणः कथा	६२
२५	दरिद्रद्विजस्य कथा	६४
२६	जिनदत्तस्य कथा	६४
२७	विश्वासघातिनिषादस्य कथा	६६
२८	तदन्तर्गत कूपपतित वानर-सर्प-व्याघ्र-मानव-समुद्धृतद्विजस्य कथा	६६
२९	नृपप्राणहर वानरस्य कथा	७४
३०	अविमृश्यकारिदेव्याः कथा	७७
३१	हस्ति-पामरयोः कथा	७८
३२	सिंही मृगीशृगालीनां कथा	७९
३३	निशाचरहन्तृमृगारेः कथा	८०
३४	कठश्रेष्ठि सागरदत्तनृपयोः कथा तदन्तर्गत-नन्दावर्त-देव-कथा	८१
३५	नमुचिमन्त्रिणः कथा	९३
३६	घृतपुष्यवस्त्रपुष्यमुनयोः कथा	९८

પ્રાસ્તાવિકમ્

જૈન શાસનના ગહન તત્ત્વોને બાળજીવો પણ સરળતાથી સમજી શકે માટે ધર્મકથાનું, યોગનું વર્ણન આગમોમાં આવે છે. કથા દ્વારા બાળજીવો સહેલાઈથી ધર્મ સમજી શકે છે.

અંગદેશમાં મુનિપતિ રાજા પૂ. શ્રી ધર્મઘોષ સૂરિ મ.ની વૈરાગ્ય સભર દેશના સાંભળી વૈરાગ્ય પામી સુપુત્રને રાજ્ય ઉપર સ્થાપન કરી સ્વયં પોતે સૂરિજી પાસે દીક્ષાનો સ્વીકાર કરે છે અને જ્ઞાન-ધ્યાન-તપ-સંયમ દ્વારા ગીતાર્થ બનેલા રાજર્ષિને ગુરુદેવ એકાકી વિહાર કરવાની અનુજ્ઞા આપે છે.

એકાકી વિહાર કરતાં કરતાં રાજર્ષિ અવન્તી નગરની બહાર ઉદ્યાનમાં, શીતઋતુમાં, કાર્યોત્સર્ગ પ્રતિમામાં મેરુવત્ નિશ્ચલ રહે છે. તે અવસરે ગોપદારકો ભક્તિ સ્વરૂપે ઠંડીમાં કામળો ઓઢાડે છે. આ બાજુ તિલભટ્ટની પત્ની ધનશ્રી પોતાનું દુશ્ચરિત્ર આ મહાત્મા જોઈ ગયા છે, તેમ માની મહાત્માને કામળા સાથે બાળે છે.

ગોપદારકોએ સવારે આવી અવસ્થામાં રહેલા મહાત્માને જોઈ કુંચિક શેઠને વાત કરતાં શ્રેષ્ઠિ મહાત્માને પોતાના ગૃહે લાવી સેવા કરતા અન્તે અચ્ચંકારી ભટ્ટાના લક્ષપાક તેલથી મહાત્મા નિરોગી બન્યા. પછી વિહાર કરતા મહાત્માને ચાતુર્માસાર્થે વિનંતિ કરતા તેઓ ત્યાં સ્થિરતા કરે છે.

શેઠ પોતાનું ગુપ્ત ધન મહાત્માના આવાસ નીચે દાટે છે અને પોતાનો દિકરો જ તે ધન ચોરી લે છે. શેઠ તેનાથી અજ્ઞાત હોવાથી રાજર્ષિ ઉપર ચોરીનો આરોપ મૂકે છે. પછી શેઠ પોતે જ કથા કહેવાની શરૂઆત કરે છે તો સામાપક્ષે રાજર્ષિ પણ તે કથા સાંભળી સાધુ ક્યારેય પણ ચોરી ન જ કરે તેમ જણાવી તેના ઉત્તર સ્વરૂપે કથા સંભળાવે છે. આમ શેઠ અને રાજર્ષિ સ્વ-સ્વ પક્ષની પુષ્ટિ માટે આઠ-આઠ કથાઓ કહે છે. તેમાં બીજી પણ અન્તર્ગત કથાઓ બતાવી છે. આમાં સુસ્થિતાચાર્ય-મેતાર્યમુનિ-કઠશ્રેષ્ઠિ અને નમુચિ મંત્રીની કથા વિસ્તારથી બતાવી છે. બાકીની ટુંકી બતાવી છે. કથાઓ જણાવતા છેલ્લે રાજર્ષિએ વિષ્ણુકુમારની કથા કહેતા જ શેઠ ગભરાયા. તો છેલ્લે દિકરો પણ લબ્ધિધારી મુનિદ્વયની કથા કહી પોતે જ ધન ચોર્યું છે તે જણાવી પિતા-પુત્ર રાજર્ષિની ક્ષમા માંગે છે.

રાજર્ષિ પર ખોટો કલંક આપવાથી ભયંકર અનર્થની પ્રાપ્તિ અને ચતુર્ગતિ

સ્વરૂપ સંસારમાં ભ્રમણ વધે છે તેવા ઉપદેશ દ્વારા શેઠને પ્રતિબોધી દીક્ષા આપે છે. અન્તે બન્નેજણ પ્રથમ દેવલોકે જાય છે ત્યાંથી મહાવિદેહમાં જઈ મોક્ષે જશે તેમ જણાવ્યું છે.

— રાજર્ષિ કયા સમયમાં થયા તે સ્પષ્ટ જણાતુ નથી પણ પોતે જ કહેલી કઠ શ્રેષ્ઠિ–સાગરદત્તરાજાની કથામાં વાણારસીમાં શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુની જીવિતસ્વામી મૂર્તિ પ્રાસાદમાં બિરાજમાન છે તે જણાવ્યું. તેના ઉપરથી શ્રી પાર્શ્વનાથપ્રભુ પછી થયા હોય તેમ જણાય છે. અને સાથે શ્રેણિક રાજાની કથા, ઘૃતપુષ્પ, વસ્ત્ર પુષ્પ મુનિની કથાઓ જોતા શ્રી આર્ય રક્ષિતસૂરિ પછી થયા હશે એમ જણાય છે. તત્ત્વં તો કેવલીગમ્યં.

— આ કથાગ્રંથની શૈલી પરિશિષ્ટ પર્વમાં બતાવેલ જંબૂસ્વામીની કથા શૈલી જેવી જણાય છે. જેમ વૈરાગ્ય પામેલા જંબૂસ્વામીને જ્યારે લગ્ન કરવા પડેલં તે વખતે પોતે પોતાની આઠ પત્નીઓને વૈરાગ્ય સભર કથાઓ કહે છે. તો સામાપક્ષે રાગી એવી આઠે પત્નીઓ પણ રાગમૂલક પ્રતિ કથાઓ કહે છે. તેવી રોચક શૈલી આમાં અપનાવવામાં આવી છે.

— જંબૂનાગ કવિનું પદ્યબદ્ધ મુનિપતિ ચરિત્ર અમદાવાદના વકીલ કેશવલાલ ઉમેદચંદે છપાવેલ. આ ચરિત્ર સંસ્કૃત ગદ્યમાં છે. વિ.સં. ૧૯૬૮માં જામનગરના હીરાલાલ હંસરાજે પ્રકાશિત કરેલ, ત્યારબાદ વિ.સં. ૨૦૩૨માં પં. રત્નાકર વિ.મ.ના સંપાદન દ્વારા અજિતનાથ જૈન છાત્રાવાસ–મજોરા તરફથી પ્રકાશિત થયેલ. આ ત્રીજી આવૃત્તિ પ્રકાશિત થઈ રહી છે.

આનું ગુજરાતી ભાષાંતર વિ.સં. ૧૯૯૪માં જૈન ધર્મ પ્રસારક સભાએ છપાવેલ પરંતુ સંપૂર્ણ ભાષાંતર ન હતું. ભાષાંતરસાર તેને કહી શકાય. તે પછી વિ.સં. ૨૦૪૧માં આજ ગ્રંથનું ભાષાંતર "નિદોર્ષમુનિ" એ નામે પુસ્તક મુ.શિવસાગરજી મ.એ સંપાદિતકરી બહાર પાડેલ અને વિ.સં. ૨૦૪૩માં મુનિપતિ ચરિત્ર ભાષાંત્તર નામે પૂ.આ.શ્રી જિનેન્દ્રસૂરિ મા.સા. જામનગરથી બહાર પાડેલ.

— આ ગ્રંથ મૂળ પ્રાકૃતમાં પૂ.શ્રી હરિભદ્ર સૂરિ મ.સા. રચ્યો છે. તેમજ પૂ. જિનદેવ ઉપાધ્યાયના શિષ્ય પૂ. હરિભદ્ર સૂરિ મ. (બીજા)એ વિ.સં. ૧૧૭૨માં પાકૃતમાં 'મુણિવઈ ચરિયં' લખેલ. ચન્દ્રગચ્છના જંબૂનાગ મુનિએ વિ.સં. ૧૦૨૫માં પ્રાકૃત ઉપરથી ગદ્ય અને પદ્યમાં મુનિપતિ ચરિત્રની રચના કરી છે. આ. વિ. દેવગુપ્ત સૂરિ મ.ના શિષ્ય સિંહકુશલ મુનિએ વિ.સં. ૧૫૫૦માં મુનિપતિ રાજર્ષિ ચોપાઈ રચી છે. આમાંથી ઘણી કથાઓ ઉપદેશમાલા, ઉપદેશ પ્રાસાદ ઈત્યાદિમાં જોવા મળે છે.

મુનિપતિ ચરિત્ર પ્રાકૃત પ્રબંધ લોભ કલ્પદ્રુમના આધારે વિ.સં. ૧૯૫૮

ચૈત્રી પૂનમ મંગળવારે સિદ્ધક્ષેત્રમાં પૂ.મુ. શ્રી ધર્મવિજય મહારાજના શિષ્ય મુનિશ્રી રત્નવિજય મહારાજે ચાર ઉલ્લાસમાં ૬૩ ઢાળમાં લગભગ ૧૫૦૦ શ્લોક પ્રમાણ મુનિપતિ રાસની રચના કરેલ. તેમાં બે-ત્રણ નવી કથાઓ પણ જોવા મળે છે. જે કથાઓ આ સંસ્કૃત ગદ્ય ચરિત્રમાં જોવા મળતી નથી.

— પ્રાન્તે આ કથા ગ્રંથ ગદ્યમાં હોવાથી સંસ્કૃતના પ્રાથમિક અભ્યાસકોને ખૂબ જ ગમી જાય તેવો સરળ ભાષામાં હૃદયંગમ બને તેવો છે. કથાઓ માત્ર મનોરંજક ન બનાવતા તદ્‌ગત પદાર્થો-ભાવોને જીવનમાં ઉતારી ભવનો થાક ઉતારનારી બને એજ શુભાભિલાષા.

આમાં મેતાર્ય મુનિની કથામાં પ્રચલિત વાત કરતા કાંઈક અલગ જ વાત બતાવી છે. તે નમુચિની કથામાં ચક્રવર્તીને વચનબદ્ધ કરતા કાર્તિકમાસ પર્યન્ત રાજ્યની માંગણી ઈત્યાદિ વાતો ત્રિષષ્ઠિ શલાકા પુરુષ ચરિત્ર કરતા ભિન્ન પડે છે. જો કે ચરિતાનુયોગમાં ભિન્નતા દેખી વ્યામોહમાં ન પડવું પણ તેમાંથી સારગ્રહણ કરી સ્વાત્મહિત કેમ થાય તે જ વિચારવું હિતકર છે.

ગુણાનુરાગિમુનિભગવન્તઃ

આના સંશોધનમાં ગુણાનુરાગિમુનિભગવન્તઃ સહાયક બન્યા અને પ્રસ્તાવના પણ લખી આપીને ઉપકાર કર્યો છે. તે સદા ચિરસ્મરણીય રહેશે. ''ઇત્થિયા પુત્થિયા કબહૂ ન શુદ્ધિયા'' કહાવતના અનુસારે સંશોધનમાં ક્યાંક ક્ષતિ રહિ હોય તો સંપાદકને જાણ કરવા વિનંતી. જેથી બીજી આવૃત્તિમાં સુધારો કરી શકાય.

જિનાજ્ઞા વિરુદ્ધ લખાયું હોય તો ''મિચ્છા મિ દુક્કડં''

૨૦૬૬ શ્રાવણ સુદ-૧૪, — જયાનંદ

બાકરા રોડ, તીર્થેન્દ્રનગર

।। श्री शङ्खेश्वरपार्श्वजिनाय नमः ।।

।। प्रभुश्री राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

पूर्वाचार्यकृतम्

।। श्रीमुनिपति-चरित्रम् ।।

प्रणम्य सद्गुरुं वीरं, स्याद्वादार्थोपदेशकम् ।
कथां मुनिपतेर्वक्ष्ये, गद्यबद्धाल्पविस्तराम् ।।१।।

जम्बूद्वीपे दक्षिणार्धभरतक्षेत्रे मध्यखण्डे अङ्गदेशे मुनिपतिक-नामनगरमस्ति, यत्र महेभ्यानामावासाः स्वर्गौकसां विमानानीव विभान्ति, लोकाश्च तत्राज्यप्रधानानि भोजनान्यास्वादयन्ति, अनेकजिन-मन्दिरेषु मनोहरा जिनमूर्त्तयः शोभन्ते। तत्र मुनिपतिनामा महाप्रतापी विक्रमी न्यायी राजा राज्यं करोति। तस्य राज्ञो विवेकविनय-शीलक्षमादिगुणपरिमलयुक्तपुष्पमालेव पृथ्वीनाम्नी पट्टराज्ञी वर्तते। तयोश्च मुनिचन्द्राभिधः पुत्रोऽस्ति। स राजकुमारो देवगुरुमातृपितृभक्तो राज्यभारधुरन्धरोऽस्ति।

उक्तं च–

चित्तानुवर्तिनी भार्या, पुत्रा विनयतत्पराः ।
वैरिमुक्तं च यद्राज्यं, सफलं तस्य जीवितम् ।।२।।

वापीवप्रविहारवर्णवनिता वाग्मी वनं वाटिका ।
वैद्यब्राह्मणवारिवादिविबुधा वेश्या वणिग् वाहिनी ।।

विद्यावीरविवेकवित्तविनया वाचंयमा वल्लिका ।
वस्त्रं वारणवाजिवेसरवरं राज्यं च वै शोभते ।।३।।

अथान्यदान्तःपुरसंस्थितस्य तस्य मुनिपतिराज्ञः शिरःस्थकेशान् राज्ञी विलोकयति, तदा तत्रैकं पलितं दृष्ट्वा हास्येन राज्ञ्योक्तं हे स्वामिन्। चौरः समागतः, तत् श्रुत्वा संभ्रमेणेतस्ततो विलोकयन् राजा कथयामास हे प्रिये! क्व स चौरोऽस्ति? तदा राज्ञ्योक्तं हे स्वामिन्! जरया प्रेषितोऽयं चौरः समागतोऽस्तीत्युक्त्वा तया स पलितो राज्ञे दर्शितः, तदा राज्ञा चिन्तितमहोऽद्याप्यहं विषयतृष्णाबद्धाशो गृहमध्य एव स्थितोऽस्मि।यतः-

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, जातं दशनविहीनं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥४॥

जरायामागतायां प्राणी धर्मकार्यं कर्तुमसमर्थो भवति। हा! हा! वृद्धत्वे समागतेऽपि मया निजात्मसाधनविमर्शोऽपि न कृतः। अथाहं पुत्राय राज्यं दत्त्वा दीक्षां गृह्णामि, इति विचार्य तेन पुत्राय राज्यं दत्तम्।

इतस्तस्मिन्नवसरे तस्य ग्रामस्योपवने धर्मघोषाख्यो मुनिः समवसृतः, राजादयः सपरिवारास्तद्वन्दनार्थं गताः! गुरुणापि तेषां धर्मोपदेशो दत्तः, यथा–

कृतघ्नो निर्दयः पापी, परद्रोहविधायकः ।
रौद्रध्यानपरः क्रूरो, गच्छति नरकं नरः ॥५॥

कवित्वमारोग्यमतीवमेधा, स्त्रीणां प्रियत्वं कनकस्य लाभः।
देवेषु पूजा स्वजनेषु भक्ति–र्यस्यास्त्यसौ नाकसमागतो हि ॥६॥

सरोगता बन्धुजनेषु वैरं, दरिद्रता मूर्खजनेषु सङ्गः ।
अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी, नरस्य चिह्नं नरकागतस्य ॥७॥

बह्वाशी नैव सन्तुष्टो, मायी लुब्धः क्षुधातुरः ।
मूको मन्दोऽलसश्चैव, तिर्यग्योन्यागतो नरः ॥८॥

अनुलोमो विनीतश्च, दयादानरुचिर्मृदुः ।
प्रसन्नास्यश्च सौम्यश्च, मानुष्यादागतो नरः ॥६॥

मार्दवार्जवसंपन्नः, कषायरहितस्तथा ।
न्यायोपेतो गुणग्राही, मनुष्यगतिभाग्भवेत् ॥१०॥

पिशुनो दुर्मतिश्चैव, मित्रैः कलहकारकः ।
आर्त्तध्यानयुतो जीव-स्तिर्यग्गतिमवाप्नुयात् ॥११॥

इत्यादीनि गुरोर्वचनानि निशम्य प्रतिबुद्धो राजा परिवार-मनुज्ञाप्य तस्यैव गुरोरन्तिके दीक्षां ललौ. अभ्यस्तद्विविधशिक्षः षड्जीवनिकायरक्षापरोऽष्टप्रवचनमातृसमाराधकः स राजर्षिः प्रतिदिनं सूत्राध्ययनं करोति स्म। क्रमेण षष्ठाष्टमादितपःप्रभावात्त-स्यामर्षौषध्यादिलब्धयः समुत्पन्नाः। ततः क्रमेण गीतार्थीभूतोऽसौ गुर्वाज्ञयैकाकी विहरति स्म।

अथैकदा स शिशिरर्तौ विचरन्नवन्तीनगर्या बहिरुद्याने नगरोपान्ते कायोत्सर्गप्रतिमया मेरुवन्निश्चलो यावत्तस्थौ तावत्तत्र केचिद्गोपाल-बालका गाश्चारयित्वा वनान्निवृत्तास्तस्य साधोः समीपे समागताः। तं साधुं ध्यानस्थं दृष्ट्वा तैश्चिन्तितमहो नूनमस्या रात्रौ महता शीतवायु-नाभिभूतस्यास्य साधोः कष्टं भविष्यतीति विचार्य तस्य रक्षार्थं तैर्गोपालबालकैर्भक्त्या स्वचीवरैः स सर्वतः परिवेष्टितः। चिन्तितं च तैः प्रातः समये पुनरत्र समागत्य वयमस्माकं वस्त्राणि ग्रहीष्यामः। ततस्ते गोपालबालकाः स्वस्थानं जग्मुः।

(१) तिलभट्ट–धनश्रियोः कथा

अथ तस्यामेव नगर्यां बोधिभट्टाख्य एको ब्राह्मणः परिवसति। स च धनाढ्यो लोकप्रसिद्धो दाता दयालुः सरलाशयः कृषिकर्मकुशलश्च वर्तते। तस्य धनश्री नाम्नी भार्यास्ति, परं साऽसतीमुख्या पापरता दुःशीला परपुरुषासक्ता कैतवकुशला चास्ति। उक्तं च–

अनृतं साहसं माया, मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥१२॥

स विप्रस्तु तिलानां संग्रहं करोति, तेन स च लोके तिलभट्ट इति नाम्ना ख्यातो जातः। परं स मुग्धत्वात्स्वभार्याया दुश्चेष्टितं न जानाति, अथ परपुरुषासक्तया तया पापिन्या धनश्रिया भोगोपभोगादिलुब्धया ताम्बूलसुखासिकाद्यर्थं प्रच्छन्नतया स्वपतिसंगृहीताः सर्वेऽपि ते तिला विक्रीताः। तत एकदा तया दुष्टयेति चिन्तितम्, तिलास्तु सर्वेऽपि मया विक्रीताः।

अथ भर्तुः किमुत्तरं दास्यामि? ततस्तत्कालोत्पन्नमत्या तया कृष्णचतुर्दश्यां गतद्विप्रहरमितायां निशायां नगराद्बहिर्गत्वा यत्र स्थाने स मुनिपतिः साधुः कायोत्सर्गेण स्थितोऽस्ति, तत्रागत्य स्वपरिधानवस्त्रं च तत्र मुक्त्वा स्वयं च नग्नीभूय विहङ्गपिच्छैः स्वशरीरं सर्वत आच्छादितम्। ततः सा कज्जलेन श्यामं स्वास्यं विधाय खदिराङ्गारपूरितं शरावमेकं करे धृत्वा, द्वितीयकरे चैकां कर्त्रिकां विधाय विकीर्णकेशा साक्षात् शाकिनीव यत्र क्षेत्रे स्वस्वामी स तिलभट्टो वर्तते तत्र गत्वेति प्रोवाच। 'तिलं भक्षयामि तिलभट्टं वा भक्षयामीति' एवं वारंवारं जल्पन्त्यन्तरान्तरा च करस्थवह्निशरावं फूत्कारैरुद्दीपयन्ती सा निजशिरो धूनयामास। एवंविधां तां दृष्ट्वा भीतो विप्रः कम्पितशरीरो

यावत्तिष्ठति तावत्समीपे समागत्य सा पापिनी भणति, रे पापिष्ठविप्र! बहुकालेन मया त्वं दृष्टोऽसि, साम्प्रतं त्वामहं स्वहस्तेन मारयिष्यामि, तत् श्रुत्वा भयभीतोऽसौ कथयामास, हे देवि! अहं दीनोऽस्मि, तवादेशकारको दासश्चास्मि, अतो ममोपरि कृपां कुरु? इत्युक्त्वा स तस्याः पादे पतितः।

तदा तयोक्तं भो विप्र! किं त्वं मां नोपलक्षयसि? अहं जगद्विख्याता तिलभक्षिणी देव्यस्मि, यदि ते जीवितेच्छा वर्तते तदा निजसर्वतिलान् मह्यं देहि? अतःपरं च त्वया तेषां तिलानां नामापि न ग्राह्यम्। मृत्युभीतेन विप्रेणापि तत्प्रतिपन्नम्। ततस्तयोक्तं भो विप्र! मया सर्वेऽपि ते तिला भक्षिताः, त्वं च मया मुक्तोऽसि, अथ त्वं स्वस्थीभूय स्वसदने गच्छेत्युक्त्वा कृतकार्या सापि ततश्चलिता तत्रैव तस्य साधोः समीपे समागता, तत्र जलेन स्वशरीरं प्रक्षाल्य तथा स्वचीवराणि परिहितानि।

इतस्तस्मिन् समये तत्साधुसमीपे केचित्पुरुषा एकं मृतपुरुषं प्रज्वाल्य स्वस्थानं गताः, तदग्नौ वातप्रेरितैकतृणपूलकः पतितः, तेन च तत्र प्रकाशो जातः, तेन प्रकाशेन च तया पापिन्या स मुनिपतिमुनि-र्ध्यानस्थस्तत्र दृष्टः, तं दृष्ट्वा तया दुष्टया चिन्तितमहोऽनेन मुनिना मम चरित्रं विलोकितम्, तेन च स लोकानामग्रे तत्सर्वं कथयिष्यतीति विचिन्त्य तया स एवाग्निस्तस्य मुनीन्द्रस्य मस्तकोपरि क्षिप्तः, तदा तैर्गोपालबालकैस्तच्छरीरोपर्याच्छादितानि तानि वस्त्राणि दग्धानि, तेन च स मुनिरपि कश्चिद्दग्धो भूमौ पतितश्च, क्रमेण तेन तस्य महापीडा समुत्पन्ना।

अथ सा दुष्टा तु स्वगृहे समागता, तस्याः पतिरपि भयकम्पि-ताङ्गो गृहे समागत्य तां स्वस्त्रियं प्रति कथयामास, हे प्रिये साम्प्रतमहं वनदेवतया छलितोऽस्मि, ततो मदर्थं शय्यां सज्जय? तयापि तथा कृतम्, ततो यावत्स शय्यायां सुप्तस्तावत्स दाहज्वरेण मृत्वा सद्गतिं

प्राप्तः। ततस्तस्याः पापिन्यास्तच्चेष्टितं लोकैर्ज्ञात्वा निन्दिता ग्रामाद्बहिर्निष्कासिता बहूनि पापानि कृत्वा मृत्वा च सा नरकं गता। अथ प्रभातसमये ते गोपालबालकाः स्ववस्त्रग्रहणार्थं तस्य मुनेः समीपे समागताः, परं तं तत्र दग्धं पतितं च दृष्ट्वा मनसि ते दुःखपरायणा जाताः, उक्तं च--

अविमृश्य कृतं कार्यं, पश्चात्तापाय जायते ।
न पतन्त्यापदम्भोधौ, विमृश्य कार्यकारिणः ।।१३।।

अहोऽस्माकं महापातकं लग्नम्, लाभमिच्छतामस्माकं मूलस्यापि हानिर्जाता, अस्माभिः साधोः सुखनिमित्तमेतत्कृतम्, परं विपरीतं जातम्।

(२) कुञ्चिकश्रेष्ठिअच्चङ्कारिभट्टायोः कथा

अथ ते सर्वे मिलित्वा नगरमध्ये कुञ्चिकाख्यश्रेष्ठिगृहे गताः, नगरे यानि जिनचैत्यान्यासन् तेषां सर्वेषां कुञ्चिकास्तस्य गृहे तिष्ठन्ति, तेन च तस्य कुञ्चिकश्रेष्ठीति प्रसिद्धं नामासीत्। अथ तैस्तस्य समीपे गत्वा तस्य साधोः सर्वमपि वृत्तान्तं तस्मै निवेदितम्। तत् श्रुत्वा दूनः स श्रेष्ठी द्रुतं तैः सार्धं तस्य साधोः समीपे समागतः, ततस्तं साधुं सुखासने संस्थाप्य स स्वगृहे समानयत्, एकान्ते च तं स्थापयामास। ततस्तेन नगरमध्योपाश्रयस्थान्यमुनीनां समीपे गत्वा प्रोक्तं, भो महात्मनः! कश्चिदेको मुनिर्नगराद्बहिः कायोत्सर्गस्थो निशायां केनचित्पापिना वह्निना दग्धो मया मद्गृहे समानीतोऽस्ति, अतस्तस्य चिकित्सायै यूयं सावधाना भवत। मुनिभिः प्रोक्तं भो श्रावकोत्तम! तदर्थमस्मद्योग्यं कार्यं कथय। तदा श्रेष्ठिनोक्तं यूयमच्चङ्कारिभट्टागृहे गत्वा लक्षपाकाभिधानं तैलं समानयत। अन्यत्सर्वमप्यौषधादिकमहं करिष्यामि। ततस्तन्मध्यान्मुनिवरयुग्मं तस्या अच्चङ्कारीभट्टाया गृहे

गतम्, तयाप्युत्थाय वन्दितेन तेन तस्यै तत्तैलं याचितम्।

इतः सौधर्मदेवलोके स्वसभायां समुपस्थितेनेन्द्रेण देवानामग्रे प्रोक्तं, भो देवाः! संप्रति मनुष्यलोके अच्चङ्कारीभट्टातुल्यः कोऽपि क्षमावान्नास्ति, तां च क्षमायाः क्षोभयितुं कोऽपि समर्थो न विद्यते। इतीन्द्रवाक्यं श्रुत्वा कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्देवस्तस्याः परीक्षार्थमच्चङ्कारिभट्टागृहे समागत्य तदाऽदृश्यरूपेण संस्थितः। अथ तयापि तदा साधुदानार्थं दास्या हस्तेन तत्तैलकुम्भो गृहमध्यादानायितः, परं तेन देवेन स्वशक्त्यान्तरैव स कुम्भो दासीहस्तात्पातितः, तेन तत्सर्वमपि तैलं भूमौ पतित्वा विनष्टम्। तदा तया द्वितीयः कुम्भ आनायितः, सोऽपि च देवेन पातितः, एवं वारत्रयं त्रयो लक्षपाकतैलकुम्भा महामूल्यास्तेन देवेन पातिताः, तथापि तया स्वदास्युपरि कोपो न कृतः, तदा मुनिभ्यामुक्तं भो श्राविकेऽनेषणीयत्वादथावां तैलं न लास्यावः, तयोक्तं भो महानुभावौ! मम गृहे प्रचुरं तैलं विद्यते, तद्युवाभ्यां सुखेन तद्ग्रहणीयं, ममाद्यतनो दिवसः सफलो जातः, यदद्याहं सुपात्रदानं दास्ये। उक्तं च–

सुपात्रदानेन भवेद्धनाढ्यो, धनप्रयोगेण करोति पुण्यम् ।।
पुण्यप्रभावेण लभेत च नाकं, नाके सुखानि बहुलानि सन्ति ।।१४।।

अभयं सुपत्तदाणं, अणुकंपा उचियकित्तिदाणं च ।
दुन्निवि मोक्खो भणिउं, तिन्निवि भोगाइयं होइ ।।१५।।

इत्युक्त्वा तया चतुर्थः कुम्भः स्वयमेव गृहमध्ये गत्वा समानीतः, स तु तस्याः शीलमाहात्म्यतो न भग्नः। उक्तं च–

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खस्सकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करन्ति ते ।।१६।।

ततस्तया तत्तैलं ताभ्यां दत्तं, मुनिभ्यामपि यथायोग्यं तद् गृहीतम्। अस्मन्निमित्तेन तव प्रचुरं तैलं विनष्टं, तथापि हे महाभागे त्वया कस्याप्युपरि कोपो न कर्तव्यः, ततस्तया ताभ्यां प्रोक्तं भो मुनीन्द्रौ! इह भवे मया क्रोधफलमनुभूतमस्ति, तत्स्मरन्त्या च मया क्रोध-प्रत्याख्यानं कृतमस्ति, ततश्चाहं महत्यपराधेऽपि कस्मैचिदपि क्रोधं न करोमि। उक्तं च-

क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः संसारवर्धकः ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं विवर्जयेत् ।।१७।।

ततो मुनिभ्यामुक्तं भो सुश्राविके! अस्मिन् भवे त्वया क्रोधफलं कथं भुक्तं? कथं च तत्प्रत्याख्यानं कृतम्? एतत्तव समग्रं चरित्रमस्मदग्रे कथय।

ततस्तयोक्तमस्मिन्नगरे धनाभिधः श्रेष्ठी परिवसति स्म, तस्य कमलश्रीनाम्नी प्रियासीत्, तयोरष्टौ पुत्राः संजाताः, तेषां पुत्राणामुपरि चाहमेका पुत्री जाता। भट्टिका च मे नाम दत्तं, अथैकदा मे जनकेन स्वजनेभ्यः कथितमेषा मे पुत्री प्राणप्रियास्ति, तेन तस्यै केनाप्यच्च-ङ्कारो न दातव्यः, ततःप्रभृति च अच्चङ्कारिभट्टेति मे नाम प्रसिद्धं जातम्। अथैवं स्वजनैर्लाल्यमानाहमष्टवार्षिकी जाता, कलाचार्यसमीपे च मया कलाः शिक्षिताः, ततो धर्माचार्यसन्निधौ नवतत्त्वाद्यध्ययनं विधाय मया सम्यक्त्वमूलद्वादशव्रतानि गृहीतानि। क्रमेण यौवनं प्राप्ताया मे मनोऽपि पाणिग्रहणेच्छां न करोति। अन्यदा मज्जनकेन पाणिग्रहणा-योक्तया मया प्रोक्तं, हे तात! अहं तस्यैव पुरुषस्य पाणिग्रहणं करिष्यामि, यो मम वचनकारको भविष्यति, अन्यथाहं धर्मपरायणैव स्थास्यामि। तदा जनकेनोक्तं हे पुत्रि! त्वं विवाहं मानय। यतः –

नारीणां प्रिय आधारः, स्वपुत्रस्तु द्वितीयकः ।
सहोदरस्तृतीयः स्यान्नाधारो ह्यवनौ परः ।।१८।।

जनकेनेत्युक्तयापि मया स्वाभिग्रहो न मुक्तः। अथानेके वरा मम पाणिग्रहणार्थं समागच्छन्ति, तेषां पार्श्वे च मज्जनको मत्कथितं, कथयति, परं कोऽपि तत्करणं न स्वीकरोति। एवं दिनेषु यातेषु क्रमेणाहं प्रौढकन्या जाता। इतस्तन्नगरनिवासी सुबुद्धिनामा मन्त्री मां दृष्ट्वा कामातुरो जातः, मम जनकपार्श्वे च तेनाहं मार्गिता, तदा मे तातेन तस्य कथितम्, यो मम पुत्रीवचनं करिष्यति तस्याहं तां दास्यामि, नान्यथा, तदा मन्त्रीश्वरेणापि तन्मम जनकवचनं मानितम्। ततो महोत्सवपूर्वकं पित्रा मम तेन सार्धं पाणिग्रहणं कारितम्। ततस्तस्य गृहे तिष्ठन्त्या मम सुखेन दिनानि यान्ति स्म। तस्य परिवारोऽपि मां गृहदेवतावन्मानयति स्म।

अथैकस्मिन् दिने मया भर्तुरग्रे प्रोक्तं हे स्वामिन्! सन्ध्यासमये एव त्वया गृहे समागन्तव्यम्, तथा निशायां भयहेतुतो गृहाद्बहिः कुत्रापि न गन्तव्यम्। मन्त्रिणा चिन्तितमेषा मम सुन्दरं हितं च कथयतीति विचिन्त्य तेनापि तत्प्रतिपन्नम्। अथ नित्यमेवं कुर्वति तस्मिन्नेकदा राज्ञा मन्त्रिणे पृष्टं, भो मन्त्रिन्! अधुना त्वं सकाले एव कथं गृहं यासि? तदा ज्ञातमन्त्रिवृत्तान्तेनैकेन सभ्येनोक्तं हे स्वामिन्नयं स्वभार्याभयेनैव नित्यं शीघ्रं गृहं याति, तदा विस्मितेन राज्ञोक्तं भार्यायाः किं भयं? तदा मन्त्रिणा यथास्थिते स्ववृत्तान्ते प्रोक्ते राज्ञा स मन्त्री केवलं विनोदार्थमेव रात्रौ द्विप्रहरं यावत्स्वपार्श्वे रक्षितः, ततो मुक्तोऽसौ रात्रिशेषसमये गृहे समागतः, तस्य समागमनं ज्ञात्वाहं क्रोधेन कपाटं दृढं दत्त्वा गृहमध्ये एव स्थिता, मन्त्रिणा बाढमुक्तयापि मया कपाटो नोद्घाटितः, प्रान्ते च मया चिन्तितं मम प्राणेशो मदर्थं खेदं प्राप्नोति, तेन कपाटमुद्घाटयामि, पश्चाच्चाहं मच्चिन्तितं करिष्यामीति ध्यात्वा

मया कपाट उद्घाटितः, ततो यदा मम प्राणेशो गृहमध्ये समागतस्तदा क्रोधपरवशया मया चिन्तितमधुनैवाहं पितुर्गृहे यामि, इति विचार्याहं तदैव गृहाद् बहिर्निर्गता, तदा मद्भर्त्रा चिन्तितं यदेषा लघुचिन्तार्थं बहिर्गता भविष्यति।

अथाहं रात्रावेव मार्गे यान्ती चौरेण गृहीता, मम वस्त्राभरणानि स गृहीत्वा मां स्वपल्ल्यां नीतवान्। तत्र तेनाहं पल्लीपतये प्राभृतीकृता। तेन पल्लीशेन भोगार्थं प्रार्थितया मया तन्न प्रतिपन्नं, ततो रुष्टोऽसौ मां प्रतिदिनं मारयति, मयापि तस्मै प्रोक्तमहं प्राणत्यागं करिष्यामि, परं मे शीलखण्डनं न विधास्ये। एवं तेनाहं भृशं विडम्बितापि तस्य वचनं नामन्यम्, तदा तस्य जनन्या तस्मै पल्लीपतये प्रोक्तं हे पुत्र! एषा महासती वर्तते, कदर्थिता च सती चेत् शापं दद्यात्तदा नूनं पुरुषस्य मरणं भवेत्, तद्विषये च हे पुत्र! मया कथ्यमानमेकं दृष्टान्तं त्वं शृणु:-

(३) परिव्राजकस्य कथा

एकस्मिन् वने कश्चित्परिव्राजको वसति स्म, स चाज्ञानतपः करोति, तपःप्रभावाच्च तस्य तेजोलेश्या समुत्पन्ना, अन्यदा वृक्षतले तिष्ठतस्तस्य मस्तकोपरि कयाचिदेकया बलाकया पुरिषनिक्षेपः कृतः, तदा तस्य परिव्राजकस्य महान् कोपो जातः, तेन च तदुपरि तेन तेजोलेश्या मुक्ता, तया दग्धा सा बलाका पञ्चत्वं प्राप्ता, अथ तेन तापसेन चिन्तितमद्यप्रभृति यः कोऽपि ममावज्ञां करिष्यति तमहं नूनं तेजोलेश्यया ज्वालयिष्यामि, इति चिन्तयित्वा स तापसो नगरमध्ये भिक्षार्थं कस्यचित् श्रावकस्य गृहे गतः, तस्य भार्या पतिव्रता सुशीला महासती भोजनं कुर्वतः स्वस्वामिनः पार्श्वे तदा स्थितासीत्, तेन हेतुना च तया किञ्चिद्विलम्बेन भिक्षा समानीता, तदा कुपितेन तेन

तापसेन तस्या उपरि तेजोलेश्या मुक्ता, परं स्वशीलप्रभावेण सा न दग्धा, तया च तापसं प्रति प्रोक्तं भो दण्डिन्! नाहं सा बलाका। तत् श्रुत्वा चमत्कृतेन तापसेनोक्तं हे सुशीले! वने समुद्भूतां तां वार्तां त्वं कथं जानासि? तयोक्तं भो तापस! एतद्व्यतिकरं वाणारसीवासी कुम्भकारस्त्वां कथयिष्यति, अतस्तत्र गत्वा तं पृच्छ? ततोऽतीव-विस्मितः स तापसोऽपि तत्र गत्वा तं पृच्छति स्म, तेनोक्तं भो तापस! शीलप्रभावात्तस्या ज्ञानमुत्पन्नमस्ति, तेन सा तत्सर्वं जानाति, ममापि शीलगुणेनं तादृगेव ज्ञानमस्ति, तेनाहमपि तत्सर्वं जानामि, अतस्त्वमपि तद्विषये यत्नं कुरु।

एतत्कथानकं श्रुत्वा स भिल्लनायको मत्तो विरक्तो बभूव। इतस्तस्मिन्नगरे कश्चित्पुरुषो वाणिज्यार्थं समागतः, तस्य पार्श्वाद्धनं लात्वाहं तेन तस्य विक्रीता, तेनापि भोगार्थं प्रार्थिता, तस्योक्तमपि मया न कृतम्, ततस्तेन कारुणा मम शरीराद्रुधिरं निष्कास्यैकस्मिन् भाण्डे निक्षिप्तं, एवं सप्तदिनानि यावत्तेन मम रुधिरं निष्कासितं भाण्डे च स्थापितं, तत्र रुधिरे बहवः कृमयः समुत्पन्नाः, तत्कृमीणां रुधिरेण स वस्त्राणि रञ्जयति स्म, एवं रक्तकर्षणतः क्रमेण मे शरीरं पाण्डुरं सञ्जातं, अन्येद्युस्तत्र नगरे मे भ्राता वाणिज्यार्थं समागतः, तेनाहमुपलक्षिता, ततस्तेन तं कारुकं प्रति पृष्टं भो! एषा वनिता त्वया कुतो लब्धा? तेनोक्तं कस्यचिद्व्यापारिणः पार्श्वान्मयैषा मूल्येन लब्धास्ति, मया भोगार्थं च प्रार्थितापि सा तन्नामन्यत। ततोऽहमनया रीत्या तस्या रुधिरं निष्कासयामि।

तदा मम भ्रात्रा चिन्तितमेषा मे भगिनी वर्तते, तथाप्येनां पृच्छामि, ततस्तेन मह्यं पृष्टं, हे भद्रे! त्वं कासि? क्व वासिनी? कस्य च तनयासि? तदा मया प्रोक्तं भो महासत्त्व! अहमवन्तीवासिधनश्रेष्ठिनः पुत्री सुबुद्धिमन्त्रिणश्च पत्न्यस्मि, मम कर्मदोषेण चाहमत्रागतास्मि।

ततस्तेन मां स्वभगिनीं ज्ञात्वा तस्मै धनं च दत्त्वाहं मोचिता स्वोत्तारके चानीता। ततोऽसौ मे भ्राता मां वस्त्राभूषणाद्यैरलङ्कृत्य गृहे समागत्य जनकस्य समर्पयामास, तत एषः सकलोऽपि वृत्तान्तो मम भर्त्रा श्रुतः, ततस्तेनाहं स्वगृहे समानीता, तद्दिनादारभ्य च मया क्रोधस्य प्रत्याख्यानं कृतमस्ति, ततोऽहं मरणान्तेऽपि कस्याप्युपरि क्रोधं न करोमि। इतस्तस्या इति वचनानि श्रुत्वा तेन देवेन प्रकटीभूय तां क्षमयित्वेन्द्रकथितः सकलोऽपि वृत्तान्तस्तस्यै निवेदितः, ततः सन्तुष्टेन तेन देवेन पूर्वभग्नान् तैलकुम्भान् सज्जीकृत्य तस्यै प्रोक्तं, भो महासति! त्वं वरं मार्गय। यत–

अमोघा वासरे विद्युदमोघं निशि गर्जितम् ।
अमोघं राजसन्मानममोघं देवदर्शनम् ।।१९।।

तयोक्तं भो देव! मम कस्यापि वस्तुनो वाञ्छा नास्ति, ततः स देवस्तत्र स्वर्णवृष्टिं विधाय स्वधाम जगाम। एवं तस्याश्चरित्रं श्रुत्वा तौ मुनिवरावपि तत्तैलमादाय कुञ्चिकश्रेष्ठिने दत्त्वा स्वोपाश्रये गतौ। शीलालङ्कारधारिण्यच्चङ्कारिभट्टापि प्रान्ते समाधिना मृत्वा देवलोके गता, तत्र देवसुखानि भुक्त्वा सा महाविदेहे मोक्षं यास्यति। ततस्तेन कुञ्चिकश्रेष्ठिना तत्तैलेन स मुनिपतिसाधुर्नीरोगीकृतः, स्वस्थीभूतः साधुरपि तस्मै धर्मोपदेशं दत्तवान्।

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता, सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसंपत्तयः।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो हि भवति स्वर्गापवर्गप्रदः ।।२०।।

अथान्यदा विहारं चिकीर्षोस्तस्य साधोरग्रे रागिणा तेन श्रेष्ठिनेति विज्ञप्तिः कृता, भो महामुने! वर्षाकालो निकटे समागतोऽस्ति,

अतश्चातुर्मासीं यावद् भवन्तोऽत्रैव तिष्ठन्तु, मुनिरपि तद्विज्ञप्तिं स्वीकृत्य तद्गृहपार्श्वस्थैकस्मिन्नपवरके चातुर्मासीं स्थितः सन् प्रतिदिनं तस्योपदेशं यच्छति, निशायां च कायोत्सर्गध्यानं करोति स्म। अथ तस्य कुञ्चिकश्रेष्ठिनः पुत्रो धनाद्यर्थं सर्वदा पित्रा सह कलहं करोति, तदा श्रेष्ठिना चिन्तितं नूनमेष मे पुत्रो मद्धनं ग्रहीष्यति, अतस्तत्कुत्रापि गुप्तस्थानेऽहं स्थापयामीति विचार्य तेन यत्र स साधुस्तिष्ठति तत्र प्रच्छन्नवृत्त्या तत्स्वकीयं धनं भूमौ निक्षिप्तं, परं केनचित्प्रकारेण पुत्रेण तत्स्वरूपं ज्ञातं, ततस्तेनापि प्रच्छन्नवृत्त्या तद्धनं गृहीत्वा तत्स्थाने महानेकोऽश्मा भूमौ स्थापितः। अथ चातुर्मास्यनन्तरं श्रेष्ठिना तन्निधानमवलोकितं, परं न दृष्टं, तदा तेन ध्यातं नूनमनेन मुनिना मे धनं गृहीतमस्तीति। विचार्य तेन मुनये प्रोक्तं हे स्वामिन्! भवता सेचनकहस्तिवत्कृतघ्नीभूय मम धनं गृहीतमस्ति।

साधुनोक्तं भो श्रेष्ठिन्! कोऽसौ सेचनकः? श्रेष्ठिनोक्तं शृणु :-

(४) सेचनकहस्तिनः कथा

गङ्गातीरे एकं हस्तियूथमासीत्, तस्य यूथपतिर्भोगवाञ्छया जातान् कलभान् मारयति, हस्तिनीश्च स्थापयति। तस्य तच्चेष्टितं विज्ञायैकया हस्तिन्या तपस्विनामाश्रमे गत्वा प्रच्छन्नं कलभः प्रसूतः, क्रमेण वृद्धिं प्राप्तः स कलभः शुण्डाभृतजलेनाश्रमतरुसेचना-त्सेचनकनाम्ना प्रसिद्धो जातः। अथ यौवनं प्राप्तेन तेन सेचनकेन तद्यूथमध्ये स्वपितरं दृष्ट्वा स व्यापादितः, स्वयं च यूथपतिर्जातः, ततस्तेन सेचनकेन चिन्तितं यथाहं मज्जनन्यात्राश्रमे प्रसूतस्तथा काचिदन्यापि हस्तिनी कञ्चिद्धस्तिनमत्र प्रसविष्यति, स च हस्ती कालान्तरे मामपि मारयिष्यति, अतोऽस्याश्रमस्य विनाशकरणमेव ममायतौ हितकरमिति विचिन्त्य तेन स आश्रमो भग्नः, एवं तेन सेचनकेन यथा तेषामुपकारिणां तापसानामेवाश्रमो भग्नस्तथा त्वयापि

ममाश्रयदातुरेव द्रव्यं हृतम्। पुनर्भो साधो एतदुपरि त्वं द्वितीयमपि दृष्टान्तं शृणु :-

(५) शुक्ल-कृष्णपाक्षिक-राज-मन्त्रि-कथा

जम्बूद्वीपे दक्षिणार्धभरते मध्यखण्डे पृथ्वीभूषणनाम्नि नगरे सकलधर्मादिपुरुषार्थोपार्जनस्थाने तीर्थङ्करचक्रवर्त्यादिसत्पुरुष-रत्नसंभवास्पदे सुरासुरनरादिनानावेषधरः सर्वसंसारिजीवनृत्या-वलोकनतत्परः शुक्लपक्षाभिधो राजा राज्यं करोति स्म, तस्य शुभपरिणामाभिधा पट्टराज्ञ्यस्ति, तस्य राज्ञो निर्दयशिरोमणिः कूटसाक्षी मायायाश्च मन्दिरं कृष्णपाक्षिकाभिधो मन्त्री वर्तते, अथान्यदा तस्मिन्नगरे विदेशात्समागतेनैकेन व्यापारिणा राज्ञे विपरीतशिक्षितस्तुरङ्गम एकः प्राभृतीकृतः, तत्परीक्षार्थं राजा तदुपर्यारुह्य वनं प्रति चलितः, क्रमेण तेनापहृतोऽसौ विजनेऽरण्ये पतितः, स अश्वश्च मृतः, क्षुत्तृषापीडितो राजा निकटस्थसरोवराज्जलं पीत्वा किंकर्तव्यमूढो वने बभ्राम इतश्च तेनैकस्तापसो दृष्टः, तं च प्रणम्य स तेन सह तस्याश्रमे गतः तत्रैकां कन्यकां दृष्ट्वा राजा विस्मयं प्राप्तः सन् चिन्तयति अहो! रूपसौभाग्य-सौन्दर्यशालिनी कस्येयं कन्या भविष्यति? एवं तां दृष्ट्वा स तस्यां रागवान् जातः, सापि तं दृष्ट्वा सरागा जाता। यतः –

सद्यः प्रीतिकरं दानं, सद्यश्चित्तहराः स्त्रियः ।
सद्यो धर्मान्मोक्षप्राप्तिः, सद्यः पतति पातको ।।२१।।

अथ तं तादृग्चेष्टायुतं दृष्ट्वा तापसेनोक्तं हे सखे! त्वं किं विलोकयसि? राज्ञोक्तं भो तापस! एषा कन्या कस्य सुता? कस्य प्रिया? कुतः कारणाच्चात्राश्रमे तिष्ठति? तापसोऽवदत् विवेकाद्रि-पर्वते धर्मसेनाभिधो विद्याधरराजास्ति, तस्येयं निवृत्त्यभिधाना सुतास्ति। अन्यदेयं कन्योपरितनभूमौ गवाक्षस्था गगनमार्गेण गच्छता

केनचिद्विद्याधरेण स्वविद्याबलेनापहृता। तदा तस्याः पूत्कारं श्रुत्वा तत्पिता तस्य पृष्टे धावितः। तदा भीतेन तेन विद्याधरेण सा कन्या मुक्ता भूमौ पतिता, तदा तत्पित्रा करकमले धृत्वा सा मम पार्श्वे मुक्ता, मह्यं च तेन कथितमहं वैरिणं तं विद्याधरं मारयित्वा यावदत्रागच्छामि, तावत्त्वयेयं रक्षणीया, चेत्सङ्ग्रामे मे मरणं भवेत् तदेयं त्वया पञ्चकायप्रवेशविद्यावले कस्मैचित्सुपुरुषाय दातव्येति कथयित्वा स गतोऽस्ति, तस्यापि वृत्तान्तस्य भूयान् कालो जातः, परं स विद्याधरेशोऽत्र नागतः।

ततस्तापसेन तं राजानं तस्या उपरि सरागं विज्ञाय शुभवेलायां तेन् सार्धं तस्याः पाणिग्रहणं कारितम्। इतश्च तस्य राज्ञः कटकमपि तत्र समागतम्। राजा निवृत्तिकन्यायुतः सैन्येन सह यावन्निजनगरं प्रति चचाल तावत्तापसेन राज्ञे प्रोक्तं, हे राजन्! यदा त्वं पञ्चकाय-प्रवेशविद्यां प्राप्नुयास्तदैव त्वयेयं कन्या स्वान्तःपुरे स्थापनीया, नान्यथेति शपथपूर्वकं तापसो राजानं व्यसर्जयत्। अथ राजापि स्वनगरसमीपे समागत्य तां कन्यां बहिरुद्याने सौधमध्ये मुक्त्वा स्वयं च महोत्सवपूर्वकं नगरमध्ये प्राविशत्। अन्येद्युर्नृपेण मन्त्रिणं प्रति पृष्टं, भो मन्त्रिन्नथ मया परकायप्रवेशविद्या कथं लभ्या? मन्त्रिणोक्तं हे स्वामिन् यूयमत्रैकां दानशालां स्थापयत। यथा तत्र दानग्रहणार्थं बहवो योगिविद्यासिद्धादयः समेष्यन्ति, तेषां मध्यात्कस्यचिदपि पार्श्वात्सा विद्यापि तव मिलिष्यति। राज्ञापि तथा कारितं, तदा तत्र दानशालायां कार्पटिकादयो बहवः पान्था दानग्रहणार्थं समागच्छन्ति, एवं षण्मासा गताः।

अन्यदा तत्रागतमेकं कार्पटिकं मन्त्री पप्रच्छ, भो कार्पटिक! विदेशेषु भ्रमता त्वया कुत्रापि स्थाने परकायप्रवेशविद्याधारकः कोऽपि योगी किम् दृष्टोऽस्ति? तेनोक्तं भो मन्त्रिन् नूनं मयैवंविध एको योगी दृष्टोऽस्ति। मदीयनगराद् द्वादशयोजने एकं महावनं वर्तते, तत्र प्रवेशमार्गे द्वौ तालवृक्षौ स्तः, तत्रैकस्मिन् वृक्षे यदा वायसदर्शनं भवेत्तदा न

गन्तव्यं, परं यदि राजहंसदर्शनं भवेत्तदा गन्तव्यं, तामटवीमतिक्रम्य लोकाग्रख्यपर्वतशृङ्गे सदानन्दनामैको योगीन्द्रः पद्मासनः स्थितोऽस्ति, तस्य योगीन्द्रस्य पार्श्वे च परकायप्रवेश-विद्यास्ति। तत् श्रुत्वा हृष्टेनामात्येन तत्स्वरूपं राज्ञोऽग्रे निवेदितम्। मुदितो राजा तत्र गमनाय तं कार्पटिकं प्रति मार्गं पप्रच्छ। तेनोक्तं राजन् भवदीयदेशादग्रे द्वादशग्रामाः समायास्यन्ति, तदग्रे नवमहानगराणि, तदग्रे च पञ्चमहा-पत्तनानि समायास्यन्ति। इत्युक्त्वाशिषं दत्त्वा स कार्पटिकः स्वस्थानं ययौ। अथ राजा तत्र गमनाय सकलसामग्रीं कृत्वा निवृत्तिसदने ययौ। निवृत्योक्तं हे स्वामिन्! तत्र गच्छता भवता स मन्त्री सार्थे न ग्रहीतव्यः, यतः स दुष्टो द्रोही असत्यप्रियश्चास्ति। यतः-

पिशुनोऽसत्यवादी च, कृतघ्नो दीर्घरोषकृत् ।
चत्वारः कर्मचाण्डालाः, पञ्चमो जातितो ह्यसौ ।।२२।।

सर्वथा लभ्यते लभ्यं, गच्छतः पथिकादपि ।
अलभ्यं सुतसम्बन्धि-बन्धुभ्योऽपि न लभ्यते ।।२३।।

अथ राजा सम्बलादि गृहीत्वा ततश्चलितः, तदा सचिवोऽपि तच्छरीरछायेव तेन सहैव चलितः, राजा निवारितोऽपि स पश्चान्न गतः। तदा सरलाशयेन राज्ञा कृपयैव स मायावी सचिवोऽपि सार्थे गृहीतः। एवं तावविच्छिन्नप्रयाणैः सप्तशतयोजनानि गतौ! क्रमेण द्वादशग्रामनवनगर- पञ्चपत्तनानि समुल्लङ्घ्य तौ पर्वतशृङ्गे गतौ। तत्रैको योगीन्द्रस्ताभ्यां पद्मासनस्थो दृष्टः, तं दृष्ट्वा च तौ हृष्टौ बभूवतुः, ततो राजा तस्याग्रे समुपविश्यैकध्यानेन तं सेवयामास। एवं कियत्सु वासरेषु गतेषु स सदानन्दो योगीन्द्रः संतुष्टः सन् राजानं प्रति कथयामास, भो राजेन्द्र! अहं तवोपरि तुष्टोऽस्मि, अतस्त्वं वरं मार्गय। तदा राज्ञोक्तं हे स्वामिन् मह्यं परकायप्रवेशविद्यां देहि? योगिनापि तस्मै सा विद्या दत्ता। तदा स मन्त्री नयनाभ्यामश्रुपात-

पुरस्सरं विलापं कर्तुं लग्नः, तं तथाविधं दृष्ट्वा राज्ञा स योगी विज्ञप्तः, हे भगवन्! ममोपरि प्रसादं विधायास्मै मे मन्त्रिणेऽपि विद्यां देहि? सदानन्देनोक्तं हे राजन्नेष ते मन्त्री महापापी मलिनहृदयः किंपाकफल-सदृशोऽस्ति, अतस्तस्य विद्यार्पणतः प्रत्युत तेऽनर्थो भविष्यति। राज्ञोक्तं हे स्वामिन्नयमप्याशां कृत्वा समागतोऽस्ति, ततो मह्यं कृपां कृत्वा तस्यापि तां विद्यां देहि? एवं राज्ञ उपरोधेन तेन योगिना तस्यापि सा विद्या दत्ता।

अथ तौ नृपसचिवौ तं योगिनं नमस्कृत्य पश्चाच्चलितौ, अटवीं चातिक्रम्यैकस्मिन् सरोवरे जलक्रीडार्थमागतौ। तस्य तटे राज्ञा चैकं मृतगजकलेवरं पतितं दृष्टम्। तदा राज्ञा चिन्तितमस्मिन् कलेवरे प्रविश्याहं मम विद्यायाः परीक्षां कुर्वे। इति विचार्य तेनात्मीयं कलेवरं मन्त्रिणे समर्प्य गजकलेवरे प्रवेशः कृतः, ततोऽसौ हस्तीभूतोऽरण्ये क्रीडार्थं गतः। तदा मन्त्रिणा चिन्तितमहोऽयमवसरः समीचीनोऽस्तीति ध्यात्वा तेन विद्यया स्वात्मा नृपशरीरे स्थापितः, स्वं शरीरं च खण्डशः कृत्वा स्वयं वृक्षान्तरे स्थितः। इतः समायातेन गजरूपधारिणा राज्ञा स्वकलेवरं न दृष्टम्। ततो नृपरूपधारी सचिवो महोत्सवपूर्वकं नगरे प्राविशत्, सामन्तादीनामग्रे च तेन कथितं यन्मन्त्री तु मार्गे सिंहेन व्यापादितः। अथ स मन्त्री यदा निवृत्त्या धवलगृहे गतस्तदा तया कथितं हे स्वामिन्। यूयं यदा देशान्तरे गतास्तदा मयाभिग्रहो गृहीतोऽस्ति यत् षण्मासं यावन्मया भूमिशयनपूर्वकं ब्रह्मचर्यं पालनीयमिति, तथैवाचाम्लतपः कर्तव्यमिति। ततो नृपरूपधारिणा मन्त्रिणा चिन्तितं षण्मासास्तु क्षणवद्यास्यन्तीति ध्यात्वा स स्वस्थाने गतः। तया चिन्तितमशुभस्य कालहरणमेव श्रेय इति ध्यात्वा सा तपःपरा स्थिता।

इतश्च गजकलेवरस्थो नृपजीवो विलापं विधाय स्वनगरं प्रति

चचाल। तावता सचिवेन गजमारणार्थं वनमध्ये स्वपुरुषाः प्रेषिताः, तैश्च समागच्छन् श्रान्तदेहः स गजो व्यापादितः, तदा राज्ञो जीवेन तद्गजकलेवरं त्यक्त्वा स्वात्मैकस्मिन् हरिणकलेवरे क्षिप्तः, तस्यापि मारणार्थं मन्त्रिणा धीवराः प्रेषिताः, तैश्च स मृगोऽपि मारितः, तदा राज्ञो जीव एकस्मिन् शुककलेवरे प्राविशत्। ततोऽसौ गगनाध्वनोड्डीय सन्ध्यासमये निवृत्तिधवलगृहसमीपस्थोद्याने गतः, रात्रौ चैकस्मिन् सहकारतरावुपविष्टः, तदा सचिवेन तद्वधार्थं पाशिका मुक्ताः, तैश्चापि युक्त्या स शुकः पाशे पातितः, ततो यावत्ते तस्य गलमोटनं कुर्वन्ति तावत् शुकेन तेषां प्रति प्रोक्तं, भो पाशिका मां चतुष्पथे कस्यापि धनिकस्याग्रे विक्रीय युष्माभिरेकलक्षसुवर्णं ग्रहीतव्यं, यथा युष्माकमपि महान् द्रव्यलाभो भवेत्। तत् श्रुत्वा लोभाभिभूतास्तेऽपि तं गृहीत्वा चतुष्पथे जग्मुः। अथ स शुकशरीरस्थो राजा चिन्तयति—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं, गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे, छिद्रेष्वनर्था बहुला भवन्ति ।।२४।।

अथ तं शुकं दृष्ट्वा सर्वेऽपि लोकास्तन्मूल्यं पृच्छन्ति, पाशिकाश्च तस्यैकं लक्षं मूल्यं प्रवदन्ति, परं कोऽपि तं न गृह्णाति। इतश्च निवृत्तिराज्ञ्या दासी तत्र शाकाद्यर्थं समागता। तां दृष्ट्वा शुकेनोक्तं भो कपिञ्जले! वर्तते तव स्वामिनी किं निरामया? विद्यते तस्याश्च कुशलं? तत् श्रुत्वा विस्मितया दास्या तूर्णं निवृत्त्याः पार्श्वे गत्वा तस्य शुकस्य स वृत्तान्तो गदितः। तदा राज्ञ्या लक्षसुवर्णसमानयनार्थं सा दासी राज्ञः पार्श्वे प्रेषिता। दास्यापि शुकग्रहणार्थं लक्षसुवर्णं राज्ञः पार्श्वे याचितं, राज्ञोक्तं लक्षसुवर्णेन तु गजतुरङ्गमादयो गृह्यन्ते, स्त्रियस्त्वज्ञानबुद्धयो या एवं शुकैककृते लक्षसुवर्णं विनाशयन्तीत्युक्त्वा तेन दासी निर्भर्त्स्य विसृष्टा। दास्यपि निवृत्त्याः समीपे समागत्य राज्ञोक्तं कथयामास। तदा राज्ञ्या दास्यै प्रोक्तं भो कपिञ्जले! नूनं नासौ मे भर्ता, मे स्वामी

तु महानुदारो वर्तते, अयं तु कोऽपि कृपणवणिगस्ति। ततो राज्ञी सपादलक्षमूल्यां स्वमुद्रिकां दास्या हस्तेन तेषां पाशिकानां दत्त्वा तं शुकं समानाय्य स्वर्णपञ्जरे स्थापयामास। तदैव राज्ञ्या वामाङ्ग-स्फुरणपूर्वकं रोमाञ्चोऽभूत्।

इतो नृपरूपधारी स सचिवोऽपि तत्रागतः, परं सरोषा निवृत्तिराज्ञी तेन सह न जल्पति, मन्त्री तु शुकं दृष्ट्वा तमुपलक्ष्य पञ्जरान्निष्कास्य पूर्ववैरेण मारयामास। तदैव राजा तच्छुककलेवरं त्यक्त्वा तत्रैवैकस्मिन् भ्रमरकलेवरे प्रविष्टः, अथ राज्ञ्योक्तं हे देव! कथं त्वया मम शुको मारितः। ममात्मीयद्रव्यव्ययेन स गृहीत आसीत्, अथैनं मम शुकं सजीवं कारय? नो चेदहं काष्ठभक्षणं करिष्यामि, तदा मन्त्री तस्या मरणभयात्स्वं शरीरमपवरके शय्यायां मुक्त्वा शुककलेवरे प्रविष्टः, तदैव राज्ञापि स्वशरीरं शून्यं दृष्टवा भ्रमरशरीरान्निर्गत्य तस्मिन् प्रवेशः कृतः। ततोऽसौ बहिरागतः। राज्यपि तं दृष्ट्वातीवहृष्टा जाता।

अथ राजा सर्वं स्वकीयं वृत्तान्तं राज्ञ्यै निवेदयामास। ततो मन्त्रिजीवयुक्तं तं शुकं राज्ञी लोहपञ्जरेऽक्षिपत्। अथ हृष्टो राजापि तया निवृत्त्या सह दिव्यभोगानि भुङ्क्ते स्म। अथैतस्योपनयमाह नगरी संसारीजीवानां निवासरूपा ज्ञेया, तत्र चतुरशीतलक्षजीव-योनिरूपा हट्टश्रेणयः, तत्र शुक्लपाक्षिकाभिधोऽर्द्धपुद्गलपरावर्त्ति-संसारवासिजीवविशेषो राजा, अपरोऽनन्तभवभ्रमणलक्षणो मन्त्री, विवेकरूपः पर्वतः, शुक्लध्यानपरायणरूपस्तापसः, चारित्ररूपो विद्याधरराजा, तस्य मुक्तिरूपा निवृत्त्यभिधा सुता, कार्पटिकरूपः सदुपदेशदाता सद्गुरुः सप्तशतयोजनानीति सप्तरज्जुप्रमाणोर्द्ध्वलोकः, द्वादश देवलोकाः, नव ग्रैवेयकाः, पञ्चानुत्तरविमानानि, तालवृक्षे दीर्घसंसारि-जीवरूपो वायसः, स्वल्पसंसारिजीवरूपश्च राजहंसः, सदानन्दाख्यो योगी श्रीवीतरागो ज्ञेयः, तस्य पार्श्वे पञ्चाङ्गीरूपा परकायप्रवेशविद्या ज्ञेया, गजकलेवररूपं नरकगतिस्थानं,

हरिणकलेवररूपं तिर्यग्ग-तिस्थानं, शुककलेवररूपं मनुष्यगतिस्थानं, भ्रमरकलेवररूपं देव-गतिस्थानं, पुनर्मनुष्यगतिरूपे स्वदेहे राजा समायातः, ततश्च पञ्चमीं मुक्तिगतिं स गतः। तेन हे भगवन्! त्वयापि मम धनं हरता कृष्ण-पाक्षिकमन्त्रिवत्कृतम्।

मुनिनोक्तं भो श्रेष्ठिन्! तत्सदृशानस्मांस्त्वं मा कथय? यतः साधवो निर्लोभा भवन्ति, यथा सुहस्तिसूरेश्चत्वारः शिष्याः, श्रेष्ठिनोक्तं कीदृशास्ते साधवः? मुनिनोक्तम्-

(६) श्री-सुहस्तिसूरेः शिष्याणां कथा (तदन्तर्गतश्रेणिकस्य कथा)

मगधदेशे राजगृहनाम्नि नगरे श्रेणिकाख्यो राजा राज्यं करोति स्म। तस्य सुनन्दाचिल्लणाभिधानं भार्याद्वयं विद्यते। तयोर्मध्यात्सुनन्दाया अभयकुमाराख्यः सुतश्चतुर्बुद्धिनिधानं तस्य मन्त्री वर्तते। अथान्येद्युश्चतुस्त्रिंशदतिशयैर्विराजमानश्चतुर्दशसहस्रसाधुषट्त्रिंशत्-सहस्रसाध्वीपरिवृतो देवदेवीभिरावृतोऽष्टमहाप्रातिहार्यशोभितो भगवान् श्रीमहावीरप्रभुः पृथिव्यां विहरंस्तत्र गुणशैलचैत्ये समवसृतः। देवैः कृतसमवसरणे स्वामी पूर्वद्वारेण प्रविश्य पूर्वाभिमुखः सिंहासने समुपविश्य सर्वभाषाजुषा गिरा मालव-केशीयरागेण धर्मदेशनां चकार।

इतश्चोद्यानपालकेन जिनागमन-निवेदनेन वर्धापितो राजा तस्योचितं दानं दत्त्वा सपरिवारो भगवद्वन्दनार्थं तत्राययौ। भगवन्तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य विधिवन्नत्वा यथास्थानमुपविष्टोऽसौ देशनां शुश्राव। इतस्तत्रैकः कुष्ठविनष्ट-शरीरो दुर्गन्धयुक्तः कश्चित्पुरुषस्तत्रागत्य प्रभुं नत्वा भगवतः समीपे समागत्य स्वपुर्निर्गतरुधिरादिना प्रभोः पादौ चन्दनेनेवार्चयामास। तत्स्वरूपं वीक्ष्य रुष्टः श्रेणिको दध्यावहोऽयं

पापीयान् जगन्मान्यस्य सुरासुरनरेन्द्रपूज्यस्य भगवतः श्रीजिनेन्द्र-स्याशातनां करोति, अतोऽयं नूनं वध्यः।

एवं यावद्राजा चिन्तयति तावज्जिनेन्द्रेण क्षुतं कृतं, तदा स कुष्ठी प्रोवाच म्रियस्वेति। इतः श्रेणिकेन क्षुते कृते त्वं चिरं जीवेति स उवाच। ततोऽभयकुमारेण क्षुते कृते त्वं जीव वा म्रियस्वेति स कुष्ठी प्रोवाच। कालसौकरिकेण क्षुते कृते त्वं मा जीव मा म्रियस्वेति स प्राह। एवं विधानि तद्वचनानि श्रुत्वा पुनः श्रेणिकोऽचिन्तयदहोऽनेन दुष्टेन जिनं प्रति म्रियस्वेति कथमुक्तम्? इति विमृश्य रुष्टेन राज्ञा निजसुभटान् प्रतीत्यादिष्टं भो सुभटा! इतः स्थानादुत्थितोऽयं कुष्ठी भवद्भिर्द्रुतं ग्राह्यो मारणीयश्च।

अथ देशनान्ते भगवन्तं नत्वा यावत्स कुष्ठी बहिरागतस्तावत् श्रेणिकसुभटैः स रुद्धः, परं स कुष्ठी तेषां सर्वेषां भटानां पश्यातामेव दिव्यरूपधरो भूत्वा गगने समुत्पतितः। तद्वृत्तान्तं ज्ञात्वातीवविस्मितो राजा सर्वज्ञं प्रत्यपृच्छत्, हे भगवन्! कोऽसौ पुमान् येन स्वदेहाद्रुधिरा-दिना भवत्पादौ प्रलिप्तौ। भगवतोक्तं हे राजन्! तस्य वृत्तान्तं शृणुः-

(७) सेडुकविप्रस्य कथा

वत्सदेशे कौशाम्ब्यभिधानैका प्रसिद्धा नगरी वर्तते, तस्यां च शतानीकाभिधो राजा राज्यं करोति स्म। तत्रैव महादरिद्रो मूर्ख-शिरोमणिः सेडुकाभिधो विप्रो वसति स्म, तस्य प्रियकान्ताभिधा भार्यासीत्। स विप्रो प्रतिदिनं सप्तग्रामेषु भिक्षां मार्गयति, तेन च महाकष्टेन स्वोदरं पूरयति। अथान्यदा तस्य स्त्रियो गर्भोत्पत्तिः संजाता, तदा तया स्वस्वामिनं प्रति प्रोक्तं, हे नाथ! मम प्रसवावसरः समायातः, अतस्त्वं मदर्थं घृतादि समानय, विप्रेणोक्तं हे प्रिये! मम पार्श्वे किमपि विद्यादिकौशलं नास्ति, येन किञ्चिद् घृतादिकं लभे, यतः कलावन्त

एव धनं प्राप्नुवन्ति।

स्त्रियोक्तं तर्हि हे स्वामिन्! त्वं नृपसमीपे गच्छ, तस्य च सेवां कुरु, येन तुष्टोऽसौ तुभ्यं धनं दास्यति। ततः स भट्टो बीजपूरादिकं गृहीत्वा नृपसमीपे गतः, राज्ञे च तत्प्राभृतीकृत्य तं सेवितुं लग्नः। अन्येद्युः प्रमुदितेन राज्ञा कथितं भो ब्राह्मण! त्वमत्र किमर्थं समायातोऽसि? तेनोक्तं हे स्वामिन्! निर्धनस्य मूर्खशेखरस्य मम कुतोऽपि धनप्राप्तिर्न भवति, ततो धनार्थमहं भवतः सेवां करोमि। राज्ञोक्तं तर्हि त्वया प्रतिदिनं वने गत्वा पुष्पाणि च समानीय मह्यं देयानि, रूप्यकद्वयं च नित्यं मम भाण्डारिणः पार्श्वाद् ग्रहणीयम्। अथ स विप्रोऽपि सदैवं करोति।

एकदा तस्य कौशाम्बीनरेशस्य चम्पेशेन सह विरोधो जातः, तदा चम्पेशश्चतुरङ्गसैन्ययुतस्तत्रागत्य कौशाम्बीपुरीं रुरोध। शतानीकस्तु बिलमध्यस्थभुजङ्ग इव कौशाम्बीमध्यस्थ एव तेन सह युद्धं करोति। अथ वर्षाकाले समायाते चम्पेशेन चिन्तितं यत्पश्चाद्गमनं न वरं, अत्रैवावासान् विधाय स्थेयं, इति ध्यात्वा स तत्र स्वसैन्य-युतस्तस्थौ। इत शतानीकस्य सैन्यं स्तोकं मत्वा चम्पेशसैन्यमध्यात्-केचित्सुभटा वर्षाकाले स्वजनान् मिलितुं पश्चाद्गताः, केचिच्च स्वक्षेत्रेषु धान्यवपनार्थं गताः, एवं स्तोकसैन्ययुतश्चम्पेशस्तत्र निश्चिन्तस्तस्थौ।

अथैकदा तस्मिन् समये स सेडुको विप्रः पुष्पानयनार्थं वनमध्ये यदा गतस्तदा चम्पेशं स्तोकसैन्ययुतं तत्र दृष्ट्वा द्रुतं नगरमध्ये समागत्य स्वस्वामिने शतानीकाय तं वृत्तान्तं कथयामास। तत् श्रुत्वा मुदितः शतानीको द्रुतं स्वकीयसकलसैन्ययुतो नगराद् बहिर्निर्गत्य चम्पेशसैन्योपरि सहसा पपात। अकस्मादागतं तं वीक्ष्य सर्वेऽपि चम्पेशसैनिका भयभीतास्ततः पलायिताः, चम्पेशोऽपि कान्दिशीकस्तत एकाकी पलायितः, तदा शतानीको विजयं प्राप्य चम्पेशस्य गजतुरङ्-

गमादि सर्वं गृहीत्वा महोत्सवपूर्वकं स्वनगरे प्राविशत्। ततोऽसौ तं सेडुकविप्रं समाहूय बहुमानपुरस्सरं प्राह, भो विप्रोत्तम! अहं तवोपरि तुष्टोऽस्मि, यथारुचि वरं याचस्व।

विप्रेणोक्तं हे राजेन्द्र! मम प्रियां पृष्ट्वाहं याचिष्ये, ततो नृपानुज्ञातः सेडुको गृहे समागत्य स्वभार्यां कथयामास, हे प्रिये! अद्य राजा ममोपरितुष्टोऽस्ति, ततस्तस्य पार्श्वात् किं मार्गयामि? तत् श्रुत्वा धीनिधिः सा चेतस्येवं चिन्तयामास, यद्ययं निर्बुद्धिर्विप्रो नृपाद् ग्रामादिकं लप्स्यते, तदासावन्यां स्त्रियं कृत्वा मामपमानयिष्यतीत्यालोच्य तया विप्रं प्रति कथितं, हे स्वामिन्! नृपस्यास्य देशे सर्वगृहेषु प्रतिदिनं भोजनमेकैकं च दीनारं दक्षिणायां त्वं याचस्व, तत् श्रुत्वा विप्रोऽपि राज्ञः पार्श्वे समागत्य तदेवायाचत। तदा राज्ञोक्तं भो मूढ! एतत्त्वया किं याचितम्? अन्यद्ग्रामादिकं याचस्व। विप्रेणोक्तं हे स्वामिन्! ग्रामादि-व्यापारविडम्बनायां पतनं मे न रोचते, तत एतदेव तुष्टिकृन्मह्यं देहि, तदा राज्ञापि स्वदेशे पटहोद्घोषणापूर्वकं विप्राय तदेव दत्तम्।

अथैवं हृष्टोऽसौ विप्रः प्रतिदिनं गृहे गृहे भोजनं करोति, दक्षिणायां दीनारैकं च गृह्णाति, राजमान्यत्वाल्लोका अपि तं सर्वदा मिष्टान्नादि सन्मानपूर्वकं भोजयन्ति दक्षिणां च यच्छन्ति। एवं कुर्वतस्तस्य बहवो वासरा गताः अथैकदा तेन विप्रेण लोभवशादिति चिन्तितं यद् ग्रामा बहवः सन्ति, मदायुस्तु स्तोकं वर्तते, अतोऽहमेकस्मिन्नपि दिने चेद् भूरिगृहेषु भोजनं कुर्याम् तदा बहुदीनारान् लभेयमिति ध्यात्वा स नित्यं पूर्वभुक्तं वान्त्वा वान्त्वैकस्मिन्नपि दिने बहुगृहेषु भोजनं करोति भूरिदीनारांश्च लभते। एवं स विप्रः स्तोकेनापि कालेन भूरिधनधान्यपुत्र-पौत्रादिपरिवारयुतो जातः। परमेवं प्रत्यहं वारंवारमजीर्णान्नवमनादिभिः पुनःपुन-र्भोजनादिभिश्च क्रमेण तस्य शरीरे कुष्ठरोगः समुत्पन्नः, तेन च तस्य शीर्षकरचरणादीनि शटितानि। एवंविधः कुष्टाभिभूतोऽपि स

सर्वदा नृपान्तिकं याति।

अथैकदा मन्त्रिभिर्भूपतिर्विज्ञप्तो हे स्वामिन्नयं विप्रोऽथ कुष्ठ-रोगाभिभूतः संजातोऽस्ति, तेन सोऽथ चेद् गृहे एव तिष्ठेत्तदा वरम्। तथा चास्य बहवः पुत्रपौत्राः सन्ति तन्मध्याच्चेदेको लोकगृहेषु भोजनं कुर्यात्तदा वरम्। तत् श्रुत्वा राज्ञा प्रोक्तं तर्हि एवं भवतु, ततो मन्त्रिभिस्तं विप्रं समाकार्येति प्रोक्तं, भो विप्र! नृपादेशेनाद्यप्रभृति त्वया त्वत्स्थानके भोजनार्थं लोकगृहेषु तवैकः पुत्रः प्रेष्यः, त्वया च गृहमध्ये एवं स्थेयम्।

अथ विप्रोऽपि तं नृपादेशं स्वीकृत्य सर्वदा निजपुत्रमेव लोकगृहेषु भोजनार्थं प्रेषयति, स्वयं च मधुमण्डपवन्मक्षिकाजालाकुलो गृहद्वाराद् बहिः पुत्रैः स्थापितः कुटिरैकदेशे तिष्ठति। गृहमध्ये कोऽपि तस्याज्ञां न मन्यते, तस्य पुत्रा अपि मण्डलवत्तस्य दारुपात्रे भोजनं यच्छन्ति, सर्वेऽपि कुटुम्बिकास्तस्य हास्यं कुर्वन्ति। वध्वोऽपि सकला यौवनोन्मत्ता नाशिकामोटनं कृत्वा तस्य प्रति निष्ठिवनं कुर्वन्ति। अथैवं पुत्रवध्वादिभिः पराभूतः स विप्रश्चिन्तयत्यहो मयैव श्रीमन्तः कृता मे पुत्रादयो मामेव धिक्कुर्वन्ति। जानन्ति चैष कुष्ठी तुष्टो रुष्टो वाथास्माकं किं करिष्यतीति विचिन्त्य क्रोधातुरोऽसौ तद्वैरप्रतिक्रियां चिकीर्षुर्निज-पुत्रानाहूयेति जगाद।

भो पुत्रा! अथाहं जीवितव्यादुद्विग्नो जातोऽस्मि, तेन चाहं संप्रति तीर्थयात्रां कर्तुमिच्छामि, अतो भवद्भिर्मदुक्त एकः कुलाचारः कर्तव्यः। तत् श्रुत्वा पुत्रैरुक्तं भो तात! भवतैतद्वरं विचारितं, अथास्मभ्यं तं कुलाचारं कथय, यथा वयं कुर्महे। सेडुकेनोक्तमथ यूयं छागमेकमानयत, यथा तस्य देवानां बलिर्दीयते, येन युष्माकं सर्वेषां सर्वदा ऋद्धिवृद्धि-कल्याणसंततिर्भवेत्। तत् श्रुत्वा तैरेकश्छागः समानीय पित्रे समर्पितः, विप्रेणोक्तमथाहं कियद्दिवसान् यावदेनं छागं मन्त्रैः पवित्रीकरिष्यामि, यूयं चैतदर्थमार्द्रयवान् समानयत, तैश्च तच्छागचरणार्थमार्द्रयवा अपि

पित्रे समर्पिताः।

अथ स सेडुकस्तानार्द्रयवान् प्रच्छन्नं स्वरुधिरादिभिर्विलिप्य तस्य छागस्य सर्वदा भोजयामास। एवं कियद्दिनानन्तरं स पशुरपि क्रमेण कुष्ठी बभूव। ततः स पापात्मा विप्रस्तं छागं हत्वा तन्मांसं स्वपुत्रादिभ्यो ददौ, पितृमनोऽभिप्रायमजानद्भिः सरलाशयैस्तैः पुत्रादिभिरपि तन्मांसं भुक्तं, एवमकार्यं कृत्वा स सेडुकः स्वयं किञ्चित्सम्बलमादाय यात्रार्थं देशान्तरे ययौ। कियद्दिवसैः स एकायां महाभयङ्करायामटव्यां प्राप्तः, तत्र तृषातुरोऽसौ जलार्थमितस्ततो भ्रमन् नानावृक्षशटितपर्ण-मूलिकादिमिश्रितकषायप्रायजलोपेतमेकं ह्रदं ददर्श।

तृषातुरेण तेन तद् दुःस्वादुग्रीष्मतप्तं क्वथितमपि पानीयमाकण्ठं पीतम्। घटिकानन्तरं च तत्पानीयपानतस्तस्य महाविरेचो लग्नः, तेन च तस्य सर्वोऽपि कुष्ठव्याधिर्विनष्टः, ततोऽसौ कियद्दिवसान् यावत्तत्रैव वनफलान्यास्वादयन् स्थितः, तज्जलपानात्तस्मिंश्च स्नान-करणात्क्रमेण स सर्वथा नीरोगीभूतो मनोहरशरीरो जातः। ततः स विप्रः पाश्चान्निवृत्य स्वनगरे समागतः, नगर्यां प्रविशन् स पौरैः पृष्टो भो विप्र! त्वं कथं नीरोगो जातः? विप्रेणोक्तं मया देवताराधनं कृतं, तस्याः प्रभावाच्चाहं नीरोगो जातः, तत् श्रुत्वा विस्मिता लोका अपि तं भाग्यशालिनममन्यन्त।

अथ गृहं गतोऽसौ स्वपुत्रादीन् कुष्ठाभिभूतान् दृष्ट्वा प्रमुदितः सन्नुवाच भो पुत्राः! समीचीनं जातं यद्युष्माभिर्मदवज्ञाफलं सद्यो लब्धम्। तत् श्रुत्वा तैश्चिन्तितं नूनमनेन पित्रैतन्महदकार्यं कृतं, यत्कुष्ठाभिभूत-छागमांसमस्माकं भक्षणाय दत्तं, धिगेनं पिशाचरूपं पितरं, एवं ते पुत्रास्तं वारंवारं धिक्कृत्य गृहाद्बहिर्निष्कासयामासुः। तद्वृत्तान्तं ज्ञात्वा पौरैरपि तिरस्कृतोऽसौ सेडुकविप्रो नगरान्निर्गत्य राजगृहनगरे समागत्य स्वाजीविकाहेतोर्नगरद्वारपालस्य सेवां करोति स्म। इतस्तत्र वयं

समवसृताः, सर्वेऽपि पौरलोकाः अस्मद्वन्दनार्थं तत्र समागताः, तदानीं स द्वारपालोऽपि निजस्थाने तं विप्रं मुक्त्वास्मद्धर्मदेशनां श्रोतुमस्मत्पार्श्वे समागतः।

(८) नवदुर्गादेवीयक्षयोः कथा

अथ तत्र नगरद्वारे यज्जातं तन्निशम्यताम्? तत्र द्वाराग्रे नवदुर्गाभिधव्यन्तरदेव्याः स्थानमस्ति, नगरलोकाश्च तां वाञ्छितदायिनीं मत्वा मानयन्ति प्रत्यहं धूपदीपादिभिश्च पूजयन्ति। अथैकदा कश्चिन्महर्धिको पुत्ररहितो व्यवहारी तत्रागत्य देवीं च नमस्कृत्येति कथितवान्, भो मातर्यदि मे पुत्रो भविष्यति तर्हि तेऽहं रत्नत्रयं दास्यामि। तदनु कियता कालेन तस्य पुत्रः समुत्पन्नः, परं स धूर्तो व्यवहारी देव्यै मानितं तद्रत्नत्रयं न यच्छति। देव्यपि सा पुनः पुनस्तस्य स्वप्ने समागत्य तानि रत्नानि मार्गयति, परं स धूर्तशेखरो न ददाति। तदैकदा तया स्वप्नमध्ये कथितं चेन्मह्यं तद्रत्नत्रयं त्वं न दास्यसि तदा तव पुत्रमहं मारयिष्यामि। तत् श्रुत्वा भीतोऽसौ प्रभाते रत्नत्रययुतः परिजनैः सह देव्याः समीपे समायतः, तत्र देव्यै तद्रत्नत्रयं ढौकयित्वा तेन धूर्तेनोक्तं हे मातरथ तव प्रसादरूपमेकं रत्नमहं मत्कृते, द्वितीयं च पुत्रकृते, तृतीयं च मद्भार्याकृतेऽहं गृह्णामीत्युक्त्वा तेन तद्रत्नत्रयं पश्चाद् गृहीतम्। ततोऽसौ देवीं नमस्कृत्य स्वगृहं जगाम।

अथ देव्या विचारितमहोऽनेन धूर्तेनाहमपि विप्रतारिता, एवं सा चिन्तातुरा यावत्तिष्ठति तावत्तस्या नायक एको यक्षस्तन्मिलनाय तत्रागतः, तां चिन्तातुरां वीक्ष्य यक्षेण पृष्टं भो देवि! अद्य त्वं चिन्तातुरा कथं दृश्यसे? तत् श्रुत्वा तया तस्य श्रेष्ठिनः सर्वोऽपि वृत्तान्तस्तस्मै निवेदितः। तत् श्रुत्वा तेनोक्तं भो देवि! त्वं तु महाभाग्यवत्यसि, यत्तेन व्यवहारिणा ढौकितानि स्वान्येव रत्नानि केवलं गृहीतानि, परमेकेन

महाधूर्तव्यवहारिणा तु मे शरीरेऽपि महापीडा समुत्पादितास्तीत्युक्त्वा तेन भूरिव्रणाङ्कितं स्वशरीरं तस्यै दर्शितम्। तद् दृष्ट्वा विस्मितया तया पृष्टं भो यक्षराज! तवाप्येषा पीडा कथं समुद्भूता?

यक्षेणोक्तमेकस्य व्यवहारिणः प्रवहणं समुद्रमध्ये जलान्तः-स्थपर्वतोपरि स्तम्भितं, तदा किङ्कर्तव्यमूढेन तेन व्यवहारिणा मां स्मृत्वोक्तं भो यक्षाधीश! यदि मे प्रवहणमितस्तरिष्यति तदाहं तुभ्यं महिषमेकमर्पयिष्यामि, तदा मयापि तस्य प्रवहणं ततस्तारितं, ततो गृहे समागतेन तेन मह्यं स मानितो महिषो न दत्तः, कियद्दिनानन्तरं मया स्वप्नमध्ये तस्योक्तं भो व्यवहारिन् चेन्मे मानितं महिषं त्वं न दास्यसि तर्हि त्वां मारयिष्यामि। ततस्तेन महाधूर्तेनैको वानेयो महिष आनायितः। ततोऽसौ स्वजनादिपरिवृतो वादित्रगीतादिपूर्वकं मम समीपे समागत्य तं महिषं मम पादे बद्धवान्, तदा लोकैस्तं व्यवहारिणं प्रति कथितं त्वं महिषमेनं मारय, तेन धूर्तेनोक्तमेतत्सर्वं कार्यं यक्षः स्वयमेव करिष्यतीत्युक्त्वा तेन वादित्रादीनां महाघोषस्तत्र कारितः तद्घोषै-र्विह्वलीभूतः स वानेयो महिषो मामपि मूलादुत्पाट्योत्प्लुत्य ततो रथ्यायां धावितः, तेन भुवि दृषदादिषु घर्ष्यमाणस्य मम शरीरे महत्क्षतानि जातानि। एवं मामपि भुवि घर्ष्यमाणं ज्ञात्वान्तराले लोकैस्तं दवरकं छेदयित्वाहं समुत्पाट्य स्वस्थाने मुक्तः, ततो धूर्तकृता ममाप्येवंविधा व्यथा जातास्ति, अतस्त्वमपि मौनं कृत्वात्र सुखेन तिष्ठ, एवं यक्षेणा-श्वासिता सा देव्यपि मौनं विधाय स्थिता।

अथैकदा तस्य श्रेष्ठिनः सा भार्या तत्र यान्ती तया देव्या दृष्टा, तां दृष्ट्वा, स्वपूर्ववैरं स्मृत्वा तया तस्याः शरीरमधिष्ठितं, तेन च सा ग्रथिलीभूय गृहे समागत्य स्वपुत्रस्य स्तन्यपानादिकमपि न कारयति स्म। श्रेष्ठिना बहव उपायाः कृताः, परं सा स्वस्था न जाता। निशायां तया देव्या स्वप्नमध्ये श्रेष्ठिने कथितं, चेत्त्वं मां लपनश्रीवटादीनां

नैवेद्यं दास्यसि, तदैव ते भार्या सञ्जीभविष्यति, नान्यथा।

अथ प्रभाते श्रेष्ठिना तत्सकलं नैवेद्यं तत्र धृतम्। अथ तत्र ढौकितं तद्वटादिकमालोक्य क्षुधातुरेण तेन सेडुकविप्रेण तदाकण्ठं भुक्तं, ततस्तस्य जलस्य महातृषा समुत्पन्ना, तया च सोऽत्यन्तमाकुलीभूतोऽपि द्वारपालभयात्तत्स्थानं त्यक्त्वान्यत्र कुत्रापि कूपवाप्यादिषु गन्तुं समर्थो नाभवत्। एवं तृषोद्विग्नोऽसाविति चिन्तयामास धन्यास्ते जलचरजीवा ये प्रतिदिनं स्वेच्छया जलकेलिं कुर्वन्ति, अहं त्वधन्यो य एवं जलं विनाधुना भृशं दुःखी भवामि। ततो वारिवारीति जल्पन् भृशमारटंस्तृषार्तो मृत्वा सोऽस्मिन्नेव नगरे द्वारसमीपे वाप्यां दर्दुरत्वेन समुत्पन्नः।

अथ भूयोऽपि वयमत्रैव नगरे समवसृताः, तदा जलहारिणीमुखादत्रास्मदागमनं श्रुत्वा जातजातिस्मरणः स दर्दुरोऽपि समुल्लसितभावेनास्मद्वन्दनाय वापीसोपानमार्गेणोत्प्लुत्योत्प्लुत्य बहिर्निर्गत्य यावन्मार्गमध्ये समायातस्तावत्तव तुरङ्गमपादप्रहारेण मृतः।

(९) दर्दुराङ्कदेवस्य कथा

शुभभावात्सौधर्मदेवलोके दर्दुराङ्के विमाने देवत्वेन समुत्पन्नः। इत इन्द्रेण तत्र देवसभायां तवेति प्रशंसा कृता यदधुना भरते श्रेणिकनृपतुल्यः क्षायिकसम्यक्त्ववान् कोऽपि नास्ति, इन्द्रस्येति वचनमश्रद्दधानोऽसौ त्वत्परीक्षार्थमिहागतोऽभूत्। तेन दर्दुराङ्कदेवेन गोशीर्षचन्दनेनैव मम चरणावर्चयता केवलं त्वद्दृष्टिमोहनायैवैतत्तव देवमायया विपरीतं दर्शितम्।

अथ पुनः श्रेणिकोऽवदत्, हे भगवन् भवद्भिः क्षुतेऽनेनामङ्गलं कथं भणितं, अन्यैश्च क्षुते तद्विपरीतं कथं कथितम्? तत् श्रुत्वा भगवानाह हे राजेन्द्र! मया क्षुते स इत्युवाच, हे भगवन् त्वमद्यापि कथं संसारे

तिष्ठसि? शीघ्रं मोक्षे व्रजेत्याशीर्वचस्तेन कथितम्। तव च चिरं जीवेत्याशीर्वचस्तेन गदितं, यतोऽत्र भवतः सुखं वर्तते, परं मृतस्त्वं नरकं यास्यसि। अभयकुमारस्तु जीवन् धर्मं करोति, मृतस्त्वनुत्तरविमाने यास्यति, अतस्तेनोक्तं त्वं जीव वा म्रियस्वेति। कालसौकरिकस्त्वत्र जीवघातं सर्वदा करोति, मृतस्तु सप्तमं नरकं यास्यति, ततस्तेन तस्य प्रोक्तं त्वं मा जीव मा म्रियस्व चेति। तत् श्रुत्वा विस्मितः श्रेणिकः पुनर्बभाषे हे भगवन्! त्वयि नाथे सति कथं मे नरके गतिः?

ततो भगवानुवाच हे भूपते! त्वं पूर्वमेव नरके बद्धायुर्वर्तसे, तेन त्वं नूनं तत्र यास्यसि, यतः

शुभाशुभानां कर्मणां फलं प्राणिभिरवश्यं भोक्तव्यमेव, तदस्माभिरप्यन्यथाकर्तुं न शक्यते।

तथा च हे राजंस्त्वमाद्यः पद्मनाभाभिधो जिनो भविष्यसि, अतस्त्वं चिन्तां मा कुरु, पुनः श्रेणिकोऽवदत् हे भगवन्! अस्ति कोऽपि स उपायो येन मया नरके न गम्यते। स्वाम्युवाच यदि तव कपिलाख्या दासी मुनिभ्यो भावेन दानं दद्यात्, कालसौकरिकश्चेत्पापकार्यं मुञ्चेत्, प्रत्यहं पञ्चसामा-यिककारकः पुण्यकश्रेष्ठी चेत्तव स्वीयैकसामायिकफलं दद्यात्तदा ते नरकान्मोक्षो भवेत्, नान्यथा। इति श्रुत्वा श्रेणिको राजा श्रीमहावीरं प्रणम्य स्वगृहं प्रति चचाल।

अत्रान्तरे तेन दर्दुराङ्कदेवेन विकुर्वितः कश्चिन्मुनिवेषधारी मनुष्यः सरस्तटस्थवृक्षादार्द्राणि फलानि गृहीत्वा स्वझोलिकायां प्रक्षिपन् नृपेण दृष्टः। एवं षड्जीवनिकायविराधकं जिनशासने मालिन्यं कुर्वन्तं च तं दृष्ट्वा हृदि खिन्नो नृपस्तं प्रणम्यैकान्ते च नीत्वा तदकार्यान्निवारयामास। ततोऽग्रे चलन् श्रेणिकस्तेनैव देवेन विकुर्वितामेकामुदरिणीं साध्वीवेष-धारिणीं कज्जलाङ्किताक्षिणीं पार्श्वस्थपुत्रद्वयां कुक्षिक्षिप्तरजोहरणां मुखस्थापितमुखवस्त्रिकां स्निग्धश्यामवेणिदण्डां काञ्चित् स्त्रियं सरस्तटे

हस्तपादौ प्रक्षालयन्तीं ददर्श। एवं तां शासनमालिन्यकारिणीं विलोक्य श्रेणिको बभाषे, हे स्वामिनि! तवात्र स्थातुं न युज्यते, इदमकार्यमपि त्वया कर्तुं न युज्यते, साध्वी प्राह हे राजेन्द्र! श्रीवीरशासने सर्वेऽपीदृशा एव सन्ति, केषाञ्चिदेवंविधमकार्यं कर्मयोगेन प्रकटं भवति, केषाञ्चिच्च प्रच्छन्नं भवति। राज्ञोक्तं भो महाभाग्ये! तवैवैतत्कर्मोदयमागतमस्ति, परं जिनशासने तु महान् प्रभावो विद्यते, अतस्त्वं मद्गृहे समागच्छ, तत्र च तव शुश्रूषा भविष्यति, सन्तानोत्पत्त्यनन्तरं च त्वया गन्तव्यम्।

अथ स देवस्तं श्रेणिकनृपं स्वज्ञानेन दृढसम्यक्त्वोपेतं विज्ञाय प्रत्यक्षीभूयोवाच हे राजन्! देवेन्द्रेण स्वःसदसि यत्तव सम्यक्त्वस्य प्रशंसा कृता सा नूनं सत्यैव, मया तु तदश्रद्दधानेनात्र समेत्य तवैवंविधा परीक्षा कृता, नूनं त्वत्तुल्योऽधुना भरतक्षेत्रे कोऽपि दृढसम्यक्त्वधारी नास्ति, अतस्त्वं धन्योऽसि, अथ त्वं मत्पार्श्वात्किञ्चिद्वरं याचस्व? राजोवाच भो देव! मम कापि न्यूनता नास्ति। तथापि देवेन दिव्यनक्षत्र–श्रेणिसोदररत्ननिर्मित एको हारो मृन्मयं च गोलकद्वितयं राज्ञे दत्त्वोक्तं, हे राजन्! योऽमुं त्रुटितं हारं संधास्यति स मरिष्यतीत्युदित्वा स देवः स्वधामं जगाम।

ततो मुदितो राजा तं दिव्यं हारं चेल्लणायै गोलकद्वितयं च नन्दायै ददौ। तदेर्ष्यया नन्दा प्राह हे स्वामिंश्चेल्लणायै त्वयेदृग्विधो दिव्यो हारो दत्तः, मह्यं चैतन्मृन्मयं गोलकद्वयं दत्तम्। तदहमनेन गोलकद्वयेन किं करोमीत्युक्त्वा क्रोधवशात्तया तद् गोलकद्वयं स्तम्भे आस्फाल्य स्फोटितं, तदैकस्माद्गोलकाच्चन्द्रबिम्बवन्निर्मलं कुण्डलयुगलं निस्सृतं, द्वितीयस्माच्च देवदूष्यवस्त्रयुग्मं निस्सृतम्। तदा नन्दापि सानन्दा सती तानि वस्तूनि जग्राह।

अथ राजा स्वकीयां कपिलां दासीमाहूय कथयामास, भो कपिले! त्वं निर्मलभावेन मुनिभ्यो दानं देहि, अहं त्वां भूरिधनं दास्ये। कपिलोचे

हे स्वामिन्! त्वं चेन्मां सर्वसुवर्णमयीं कुर्यास्तथाप्यहं प्राणान्तेऽप्येतदकार्यं नैव करिष्यामि। तत् श्रुत्वा राज्ञा चिन्तितं वीरवचनं कदाप्यन्यथा न भवेत्। ततो राज्ञा तं कालसौकरिकमाहूय प्रोक्तं, भो कालसौकरिक! त्वं स्वर्णमणिमाणिक्यादि यथारुचि मत्पार्श्वाद् गृहाण, परं नित्यं पञ्चशतमहिषमारणरूपां हिंसां त्यज, कालसौकरिकेणोक्तं हे राजन्! प्राणान्तेऽप्यहं मत्कुलक्रमागतं हिंसाकार्यं नैव त्यक्षामि। तत् श्रुत्वा कुपितेन राज्ञा स घोरान्धकारे कूपे रक्षितः। ततो राजा पुण्यक-श्रेष्ठिनमाहूय तत्पार्श्वात्केवलमेकसामायिकफलमयाचत। तेनोक्तं हे राजन् मत्पार्श्वे सामायिकफलं नास्ति, ततस्तुभ्यं कथं प्रयच्छामि?

अथ प्रभाते श्रेणिको भगवद्वन्दनाय गतः, तत्र स्वामिनं च नत्वा तेन विज्ञप्तं, हे भगवन्! मया स कालसौकरिकस्त्वन्धकूपे क्षिप्तोऽस्ति, एवं चाद्य तस्य मया हिंसा त्याजितास्ति। भगवतोक्तं हे राजन्! तत्रस्थोऽपि स मृन्मयानि महिषपञ्चशतानि निर्माय मारयत्येव। प्राणान्तेऽप्यसौ तत्कार्यं नैव त्यक्षति। तत् श्रुत्वा विस्मितो राजा प्रभुं नत्वा कालसौकरिकसमीपे गतः, तत्र च तेन मारितान्मृन्मयान्महिषान्-पश्यत्। तत उद्विग्नमनाः श्रेणिकश्चिन्तयति अरे धिग्मे पूर्वकृतं कर्म, भगवद्गिरो नान्यथा भवति।

अथ चेल्लणाया मनसि महानुद्वेगोऽजायत, तेन च तया राज्ञे प्रोक्तं, हे स्वामिन्! मह्यं तु त्वयैको हार एव दत्तः, नन्दायै तु कुण्डलयुग्मोपेतदिव्यवस्त्रयुग्मं त्वया कथं दत्तम्? श्रेणिको बभाषे हे प्रिये तुभ्यं तु मया बहुमूल्यो हारो दत्तोऽस्ति, नन्दायास्तु कर्मयोगेन तद्गोलकयुग्माद् बहुमूल्यानि वस्तूनि प्रकटितानि, तत्र मे को दोषः? चेल्लणयोक्तं हे स्वामिन्! चेत्तानि वस्तूनि त्वं मे न दास्यसि तदाहं स्वात्मघातं करिष्ये, राज्ञोक्तं तर्हि यत्ते रोचते तत्कुरु। इत्युक्त्वा राजा तु स्वसदसि गतः। अथ रुष्टा चेल्लणात्मघातं चिकीर्षुः स्वात्मानमधः

पातयितुं गवाक्षोपरि गत्वेतस्ततो विलोकयामास।

(१०) आरोहकहस्तिपकस्य कथा

इतस्तत्र नगरे आरोहकनामैको राजकार्यकुशलो हस्तिपालकः परिवसति स्म, स च मगधसेनाख्यगणिकायामासक्तोऽभूत्। एकश्चान्योऽपि मेण्ठकस्तस्यामासक्त आसीत्। ते त्रयोऽपि तदा चेल्लणायाः सौधस्याधस्तद्वार्त्तां कुर्वतः स्थिताः सन्ति, चेल्लणा च तेषां वार्तालापं शृणोति। तदा सा गणिका तमारोहकं प्रति भणति हे स्वामिन्नद्योत्सवेऽहं यास्यामि, ततो राज्ञो गजेन्द्रस्य चम्पकमालाभिधं स्वर्णाभूषणमद्य मम देहि? चेत्त्वं न दास्यसि तदाहं मरिष्यामि। आरोहकेणोक्तं हे प्रिये एतद्भूषणं राज्ञः सत्कं विद्यते, ततश्चेद्राजा जानाति तदा ममापि शीर्षश्छेदो भवति। आरोहकेणेत्युक्तया तया स्वकदाग्रहो न त्यक्तः तदा तेन मेण्ठेनारोहकं प्रति प्रोक्तं, भो मित्र! यो हि यदा मिष्टवाक्यैरपि स्वपरहितं न मन्येत, तस्य कर्कशवचनैरपि तर्जनं कर्तव्यम्।

(११) तापसस्य कथा

यथा कश्चित्तापसो देशान्तरं गतः पलाशबीजं समानयत्, ततस्तेन स्वक्षेत्रे तद्बीजमुप्तं, प्रचुरवारिणा च सिक्तं, ततः पलाशतरुर्वृद्धिं प्राप्तः, परं तस्योपरि पुष्पाणि न समायातानि। तदा क्रुद्धेन तेन स पलाश-द्रुमोऽग्निना ज्वालितः, कियत्कालेन स पलाशद्रुमः स्वयमेव पुनर्वृद्धिं प्राप्तः पुष्पप्रकरैश्च मण्डितोऽभूत्।

पुनर्ब्रह्मदत्तचक्रिणो यथा छागस्तथा हितकथको हि परस्य न रोचते। तत् श्रुत्वारोहकेणोक्तं भो मित्र कोऽसौ ब्रह्मदत्तः? मेण्ठकेनोक्तम्।

(१२) ब्रह्मदत्तचक्रिणः कथा

काम्पिल्यपुरपत्तने ब्रह्मदत्ताख्यश्चक्री राज्यं करोति स्म। अन्यदा तुरङ्गमसैन्यपरिवृतोऽसौ वने कौतुकविलोकनाय गतोऽश्वेनापहृतो महागहनवने प्रविष्टः, श्रान्तश्च स तरोस्तले समुपविष्टः, अश्वश्च तस्य मृतः, इतस्तस्य सैन्यमपि तत्रागतं, ततोऽसौ सेन्ययुतो महोत्सवपूर्वकं नगर्यां प्राविशत्। रात्रौ च वासभुवने स पट्टराज्ञ्याः समीपे गतः, तदा तया राज्ञे पृष्ठं हे स्वामिन्नद्य भवता वनमध्ये किमाश्चर्यं दृष्टं? राज्ञोक्तं हे प्रिये तत्रैकं मया सरोवरं दृष्टं, तत्र स्नानं कृत्वा यावदहं तस्य तटे समुपविष्टस्तावदेवैका नवयौवना नागकुमारिका जलमुल्लालयन्ती सरोवराद् बहिर्निस्सृता। मम पार्श्वे च समागत्य सा कामातुरा सम्भोगाय मां गाढं प्रार्थयामास, परं मया सा निषिद्धा। ततः सान्यभोगीन्द्रेण सह तत्र क्रीडां कर्तुं प्रवृत्ता। इतो मया कशाघातेन ताडितौ तौ द्वावपि प्रणष्टौ।

इत्युक्त्वा स ब्रह्मदत्तो लघुचिन्तायै यावद् भुवनाद्बहिर्गतस्तावदेको देवो योजिताञ्जलिस्तस्य पादयोः प्रणम्येति जगाद। भो राजेन्द्राहं तवोपरि तुष्टोऽस्मि, अतो वरं मार्गय। राज्ञोक्तं भो देव! त्वं केन हेतुना ममोपरि तुष्टोऽसि? देवेनोक्तं हे राजन्! सरसि या ललना त्वया दृष्टा सा मे भार्यासीत्, सा च गृहे समागत्य मामेवं बभाषे, हे स्वामिन्! जलकेलिं कुर्वन्त्यहं ब्रह्मदत्तेन सम्भोगार्थं प्रार्थिता, मया निषिद्धोऽप्यसौ मम शीलखण्डनं चकार, इत्युक्त्वा स रुदितुं प्रवृत्ता।

अथ तत् श्रुत्वा कुपितोऽहं तव वधार्थमत्रागत आसीत्, परं त्वया योऽयं व्यतिकरः स्वपट्टराज्ञ्यै निवेदितः स सर्वोऽपि वातायनस्थेन मया श्रुतः, एवं च मम स्त्रियः सकलमपि दुश्चरित्रं मया ज्ञातं, त्वं तु हे राजन्नुत्तमोऽसि, अहं तवोपरि तुष्टोऽस्मि, अतस्त्वं वरं वृणु, ब्रह्मदत्तेनोक्तं

हे देव! मम कापि न्यूनता नास्ति। देवेनोक्तं परं भो राजन्! देवदर्शनममोघं भवेत्, तेन त्वं किञ्चिदपि याचस्व, राज्ञोक्तं तर्ह्यहं सर्वजीवानां वाणीज्ञाता यथा भवेयं तथा कुरु, देवेनोक्तमेवं भवतु, परं त्वयैतत्कस्याप्यग्रे न वक्तव्यम्, चेद्वदिष्यसि तदा त्वं मरणं प्राप्स्यसि। राज्ञापि तत्प्रतिपन्नं, देवोऽपि स्वस्थाने गतः।

अथान्यदान्तःपुरस्थस्य राज्ञः शरीरे चन्दनलेपं कृत्वा राज्ञी शेषचन्दनयुक्तकच्चोलकं पार्श्वे मुमोच। इतस्तत्र भित्तेरुपरिस्थितौ स्त्रीपुरुषरूपौ गृहगोधायुगलौ परस्परमतीवप्रीतिभाजावास्ताम्। तयोर्मध्याद् गृहगोधया स्वस्वामिनं प्रति प्रोक्तं, हे स्वामिन्नस्मात्-कच्चोलकमध्यात्स्तोकं चन्दनं समानीय मे देहि? यथा ममाऽपि शरीरसन्तापो दूरीभवेत्। तत् श्रुत्वा गृहगोधेनोक्तं, अरे वराकि! त्वं तु मूढासि, अहं मूढो नास्मि, यदि राज्ञः समीपेऽहं गच्छेयं तदा स मां नूनं मारयेदेव, तेन त्वं मौनमेव भज, तत् श्रुत्वा गृहगोधयोक्तं अरे त्वं कीदृशो निःसत्त्वोऽसि। यदेतावन्मात्रमेव मे मनोरथं न पूरयसि। एवंविधां तयोर्वार्तां श्रुत्वा राज्ञः किञ्चिद्धास्यं समागतम्। एवं राज्ञो हास्यं दृष्ट्वा संशयमापन्ना राज्ञी पप्रच्छ,।

हे स्वामिन्नप्रस्तावेऽपि भवतो हास्यं कथं समागतम्? राज्ञोक्तं हे प्रिये! एषा वार्ता त्वया न पृष्टव्या, यतश्चेदिमां वार्तामहं त्वां कथयेयं, तदा नूनं मे मरणं भवेत्। तत् श्रुत्वा विशेषतः संशयमापन्ना राज्ञी जगाद, हे स्वामिन्! यदि तव मरणं भविष्यति तदाहमपि तव सार्थे एव समागमिष्यामि। ततो राज्ञा बहुधा निवारितापि सा स्वकदाग्रहं न तत्याज। तदा राज्ञा स्वप्रियायाः सा कदाग्रहवार्ता सचिवाय निवेदिता, सचिवेनोक्तं हे स्वामिन्! भवतामेवमकाले मरणे प्रजादीनां महासन्तापो भविष्यति, तत एतत्कार्यं मा कुरु? राज्ञोक्तं भो सचिव! तवोक्तं सत्यमस्ति परं मे प्राणवल्लभायाः प्रमोदायाहं मरणमप्यङ्गीकरिष्ये, अतस्त्वं

श्मशाने चितां कारय, तत्र गत्वाहं तस्यै तां वार्तां कथयिष्यामि। अथ चितायां प्रगुणितायां राजा स्नानं कृत्वा तत्रोपविष्टः, मन्त्रीश्वरादयः पौरलोकाः शोकाकुला आक्रन्दं कुर्वन्ति।

इतो राजाश्वनिमित्तं तत्र यवशकटं समागतं, तस्य पश्चादजा-वर्गोऽपि समागतः। तदैकयाजया स्वस्वामिनमजं प्रति प्रोक्तं, हे स्वामिन्नस्माच्छकटात्स्तोकान् यवानानीय मह्यं देहि? तत्स्वादने मम दोहदः समुत्पन्नोऽस्ति। तत् श्रुत्वाजेनोक्तं भो रण्डे! नाहं ब्रह्मदत्त-सदृशोऽस्मि यत्त्वदुक्तमेतत्कार्यं कृत्वा ममात्मानमहं मरणमुखे पातयामि। त्वत्तुल्यरण्डाकृते नाहं मे मरणं वाञ्छामि। तत् श्रुत्वाजयोक्तं अरे कृपण! त्वं नूनं प्रीतिस्वरूपं न जानासि। पश्यायं ब्रह्मदत्तश्चक्रवर्ती राजापि स्वस्त्रियोऽर्थे मरणमप्यङ्गीकुरुते। तत् श्रुत्वाजेनोक्तं रे रण्डे! अयं राजापि मूर्खोऽस्ति, ये एवं रण्डानिमित्तं मरणं स्वीकुरुते, अहं तु तस्य तुल्यः कदापि न भविष्यामि।

एवंविधं तयोरालापं श्रुत्वा विस्मितो राजा चितायाः समुत्तीर्य पश्चाद् गृहं ययौ, मनसि च तेन चिन्तितं नूनमयं छागोऽपि मे गुरुर्जातः, ततो राज्ञा तच्छागयुग्मं समानाय्य तयोः कण्ठे स्वर्णशृङ्खलां परिधायाशनाय मनोहरा यवा दत्ताः, अथ राज्ञ्योक्तं हे स्वामिन्! मे तद्धास्यकारणं कथय? राज्ञोक्तमवसरे कथयिष्यामीत्युक्त्वा तेन दासीनां सन्मुखं विलोकितं, तदैव पूर्वं सङ्केतिताभिर्दासीभिः सा राज्ञी लोहशृङ्खलायामुच्चैः केशेषु बद्धा, स्वयमेव राज्ञा कशाघातैस्ताडिता च सा रुरोद, ततो रुधिरं वमन्ती सा प्राह हे स्वामिन्नथ मया सा सर्वापि वार्ता ज्ञाता, पुनः कदाप्येवं नैव करिष्यामीति वदन्ती सा राज्ञा मुक्ता। ततो यथैवं ब्रह्मदत्तेन स्वहितं कृतं, तथान्यैरपि स्वहितं कर्तव्यम्। इति मेण्ठोक्तं वचनं निशम्य मगधसेनापि स्वकदाग्रहान्न्यवर्तत।

चेल्लणापि तेषां वार्तालापं श्रुत्वात्मघातान्निवृत्त्य स्वकदाग्रहं

त्यक्त्वा हारेणैव संतोषं प्राप्ता। अथैवं कियत्सु दिनेषु यातेषु स हारस्त्रुटितः, केनापि च न सन्ध्यते, कदापि कोऽपि बुद्धिबलात्तं सन्धातुं जानीयात्, सोऽपि मरणभयात्तत्कार्यं न करोति। तदा राज्ञा नगरीमध्ये पटहोद्घोषणा कारिता यद्यः कोऽपि हारमेनं संधिष्यति तस्य राजा लक्षद्रव्यं दास्यति। अथ तत्र नगरे चैको वृद्धो निर्धनो बुद्धिवान् स्वर्णकारो वसति स्म, तस्य चत्वारः पुत्राः सन्ति। तेन सुवर्णकारेण चिन्तितं यन्मम जरा समायातास्ति, अतोऽनेन धनेन चेन्मम पुत्राः सुखिनो भवेयुस्तदा वरमिति ध्यात्वा तेन स पटहः स्पृष्टः, ततोऽसौ राज्ञः समीपे गतः।

राज्ञोक्तं भो सुवर्णकार! अमुं हारं त्वं संधय? अर्धं धनं त्वमधुना गृहाण, अर्धं च पश्चाद्दास्यामि। यदि तव मरणं भविष्यति तदा ते पुत्रेभ्योऽहं तदर्द्धं धनं दास्यामि। ततः साक्ष्यादि विधाय राज्ञा स हारस्तस्मै सुवर्णकाराय दत्तः, सुवर्णकारोऽपि तं हारं समादाय स्वगृहे समाययौ। तत्र तेनानेके उपायाः कृताः, परं स हारः सन्धिं न प्राप्तः, तदा बुद्धिमता तेन दवरकप्रान्तो मधुना संलिप्य कीटिकाबिले मुक्तः, तत्पार्श्वे च तानि रत्नानि मुक्तानि, मधुगन्धलुब्धा कीटिका तद्दवरकप्रान्तं मुखे गृहीत्वा रत्नछिद्रेभ्यो निस्ससार। तत्कालं सुवर्णकारेण स दवरकप्रान्तो गृहीत्वान्यप्रान्तेन सह ग्रथितः, इतोऽकस्माद्विद्युत्पातादिव तस्य मस्तकं स्फुटितं, तेन स स्वर्णकारो मृत्वा तत्रैव नगरोपवने कपित्वेन समुत्पन्नः। ततस्तस्य पुत्रैः स हारो राज्ञः समीपे समानीतः, राजापि तं हारं दृष्ट्वातीवहृष्टः, तदनन्तरं तैः सुवर्णकारपुत्रै राज्ञः पार्श्वे शेषं धनं याचितं, परं लोभाभिभूतेन राज्ञा तन्न दत्तम्।

अथ स कपिर्नगरमध्ये भ्रमन्नेकदा स्वावासे संप्राप्तः, तत्र स्वकृतानि गृहादीनि दृष्ट्वा विचारयतस्तस्य जातिस्मरणज्ञानं समुत्पन्नम्। ततोऽसौ स्वहट्टे निजपुत्राणां समीपे समाययौ। तत्र पुत्राणामग्रे

तेनाक्षराणि संलिख्य कथितं, भो पुत्रा! अहं युष्माकं तातोऽस्मि, यूयं च मे पुत्राः स्थ, ततोऽवदत् यद्राज्ञा भवद्भ्यः पञ्चाशत्सहस्रमितं शेषं धनं युष्मभ्यं दत्तं न वेति? तैरुक्तं भो तात! नृपेणास्मभ्यं तद्धनं न दत्तमिति श्रुत्वा स कपिर्वने गतो मनसि चिन्तयामास, अथ चेत्स हारो मम हस्ते समायात्तदा वरं भवेदिति ध्यात्वा स प्रतिदिनं राजभुवनोपरि भ्रमति।

अथैकदा सा चेल्लणा राज्ञी अशोकवाटिकायां गत्वा पुष्पावचयं विधाय स्नानं चिकीर्षुर्वापीतटे गता। ततस्तया सर्वाणि हारमुख्यानि स्वाभरणानि दास्यै समर्प्य वाप्यां गमनं कृतम्। दास्यपि तानि सर्वाभरणानि स्थालमध्ये स्थापयित्वा तं स्थालं च स्वमस्तकोपरि निधाय वापीतटे चूततरोरधस्तात्स्थिता। इतः स कपिरपि भ्रमंस्तत्र समायातः, तेन तदा दासीमस्तकस्थाभूषणभृतस्थालमध्ये स हारो दृष्टः, ततोऽसौ शनैः शनैर्वृक्षशाखायामागत्य यथा कोऽपि न जानते तथा हस्तलाघवात्तन्मध्यात्तं हारं जग्राह। ततः स्वकक्षायां तं हारं संगोप्य द्रुतं पुत्राणां पार्श्वे समागत्य स तेभ्यः समर्पयामास पुत्रैरपि स हारः प्रच्छन्नं गोपितः।

अथ चेल्लणा राज्ञी स्नानं विधाय बहिरागत्य दासीपार्श्वात्स्वाभरणानि जग्राह, परं तेषु मध्ये तया स हारो न दृष्टः, संभ्रमं प्राप्तया तया दास्यै पृष्टं, तयोक्तं हे स्वामिनि! तद्विषयेऽहं किमपि न जानामीत्युक्त्वा भयकम्पिताङ्गी सा रुदितुं प्रवृत्ता। ततो राज्ञ्या तत्र सर्वत्र स हारो विलोकितः परं क्वापि न दृष्टः। ततोऽसौ द्रुतं स्वसौधमध्ये समागत्य तं वृत्तान्तं राज्ञे निवेदयामास। राज्ञाप्यभयकुमारमाहूय हारचौरगवेषणायाज्ञा दत्ता। अभयेनोक्तं हे तात! समवासरमध्येऽहं हारचौरं प्रकटीकरिष्यामि।

अथाभयकुमारेण सर्वत्र स चौरो गवेषितः, परं स कुत्रापि न

लब्धः, तदा तेनेति नगरमध्ये पटहोद्घोषणा कारिता, यद्यस्य कस्यापि पार्श्वे स हारो भवेत्तेन मे द्रुतं समर्पणीयः, पश्चादस्य कस्यापि पार्श्वात्स मिलिष्यति तमहं मारयिष्यामि, एवं स पटहः सर्वत्रापि बभ्राम, परं केनापि स न स्पृष्टः। अथ भीतास्ते स्वर्णकारपुत्रास्तं हारं तस्मै कपये पुनः समर्पयामासुः। कपिरपि तं हारं गृहीत्वा वने ययौ। दिवसे च वनमध्ये वृक्षान्तरितः स्थित्वा रात्रावेकयक्षायतनसमीपे वाटिकायां गतः।

(१३) श्रीसुहस्तिसूरेः शिष्याणां कथा

अथ तत्र यक्षायतने श्रीसुहस्तिसूरिमुख्याः पञ्च साधवस्तदा स्थिता आसन्। ततः प्रतिक्रमणं विधाय सुहस्तिसूरिः स्वशिष्याणामग्रे कथयामास, भो शिष्याः! भवद्भिरत्र स्थेयं, अहं च बहिः कायोत्सर्गध्यानेन स्थास्यामि, इत्युक्त्वा यत्र वृक्षे स कपिः स्थितोऽभूत्तस्य तरोस्तले स कायोत्सर्गेण तस्थौ। तदा स कपिर्वृक्षाद्विनिर्गत्य तं हारं तस्य सूरिराजस्य कण्ठे स्थापयामास। अथाभयकुमारोऽपि तस्मिन् पाक्षिकदिने तेषां मुनीनां समीपे रात्रिपौषधं गृहीत्वा स्थितः, ततस्ते सर्वेऽपि तत्र धर्मजागरणं कुर्वन्ति।

(A) प्रथम-शिवमुनेः कथा

तदा रात्र्याः प्रथमे यामे शिवाभिधो मुनिर्गुरोर्विश्रामणार्थं तस्य पार्श्वे बहिर्गतः, इतो गुरोः कण्ठे हारं दृष्ट्वा भयभीतोऽसौ यामान्ते पुनः स्वस्थाने प्रविशन् नैषेधिकीस्थाने भयं वर्तते इत्यजल्पत्। तत् श्रुत्वाभयकुमारेणोक्तं हे भगवन्! भवतां संयमवतां कुतो भयं वर्तते? मुनिनोक्तं भो अभयकुमार! संयमिनामस्माकं किमपि भयं नास्ति, परमहं यदा स्वगृहेऽवसं तदा मया भयमनुभूतमासीत्, अभयकुमारे-

णोक्तं भो स्वामिन्! गृहवासमध्ये भवता किं भयमनुभूतमासीत्, तद् वृत्तान्तं ममाग्रे कथय, मुनिरुवाच–

उज्जयिन्यां महापुर्यां शिवदत्ताख्यौ द्वौ बान्धवौ वसतः स्म। परं धनहीनत्वादेकदा तौ परस्परमिति विचारं कुरुतः, आवां धनार्जनाय सौराष्ट्रदेशे गच्छावः, इति ध्यात्वा तौ तत्र गत्वा व्यवसायं चक्रतुः, परं धनंप्राप्तिर्नाभवत्। तत एकेन तत्र कृषिकर्म प्रारब्धं, अन्यस्तु किञ्चित्क्रयाणकं गृहीत्वा प्रवहणमारुह्य विदेशे गतः। ततो यावत्स मार्गे प्रयाति, तावद्रात्रौ तेन चत्वारो वैदेशिकवणिजो वटतरोस्तले समुपविष्टा दृष्टाः। इतो वटशाखात एकः सुवर्णपुरुषो निर्गतः, तं ग्रहीतुं यावत्ते यान्ति तावत्तेन *सुवर्णपुरुषेणोक्तमर्थादनर्थो भवति।* इति श्रुत्वापि ते तं गृहीत्वा भूमौ स्थापयामास।

अथ प्रभाते तेषां मध्याद् द्वौ भोजनसामग्रीकृते नगरमध्ये गतौ, द्वौ च तस्य सुवर्णपुरुषस्य रक्षणाय तत्र स्थितौ। अथ भोजनसामग्रीकृते नगरं गतौ तौ द्वावित्यचिन्तयतां चेदावां तौ द्वावपि मारयावस्तदावयो–र्भूरिद्रव्यं लभेत, इति ध्यात्वा ताभ्यां भोजनमध्ये विषं प्रक्षिप्तम्। अथ वटतलस्थिताभ्यामपि द्वाभ्यामिति चिन्तितं यदावां तौ द्वावपि मारयित्वा सुवर्णपुरुषं गृह्णीवः।अथ यावत्तौ भोजनं गृहीत्वा तत्रागतौ तावत्ताभ्यां तौ द्वावपि खड्गेन हतौ, ततः सविषभोजनकरणानन्तरं तावपि तत्र मृत्वा पतितौ।

तदा वृक्षान्तरितेन मया तत्सर्वं तेषां चेष्टितं विज्ञायेति ध्यातमहो–ऽर्थादनर्थो ह्ययमेव। ततस्तं सार्धहस्तप्रमाणं सुवर्णपुरुषं गृहीत्वाहं पश्चान्निवृत्त्य भ्रातुः समीपे समागतः। तत आवाभ्यां संभूय गृहं प्रत्याग–च्छद्भ्यां मार्गे इति विचारः कृतः, तत्र मयेति चिन्तितं चेदहमेनं भ्रातरं मारयामि तदा सर्वमेतद्धनं मम स्वाधीनं भवेत्, भ्रात्रापि ममैवमेव चिन्तितम्। एवं ध्यायन्तौ द्वावप्यावां स्वनगरसमीपे समागतौ। तदा

मया पुनश्चिन्तितं धिगेतद्धनं, येनेदृशी बुद्धिरुत्पद्यते, इति विचार्य मया स सुवर्णपुरुष एकस्मिन् ह्रदमध्ये निक्षिप्तः। तदा मे भ्रात्रापि कथितं भो बान्धव! त्वयैतद्भव्यं कृतं, ततस्तौ द्वावपि गृहे समागतौ, तौ दृष्ट्वा सर्वे स्वजना अपि हृष्टाः संजाताः।

अथ स सुवर्णपुरुषो ह्रदमध्ये एकेन महता मत्स्येन गलितः, स मत्स्योऽप्येकेन धीवरेण स्वजालमध्ये गृहीतः, ततः स धीवरस्तं मत्स्यं विक्रयार्थं चतुष्पथे समानयत्, तदास्मन्माता तं मत्स्यं भोजनार्थं मूल्येन गृहे समानीयास्मद्भगिन्यै ददौ, ततः सा यावत्तं मत्स्यं द्विधा करोति, तावत्तन्मध्यात्तन्निधानं प्रकटितं, तद् दृष्ट्वा हृष्टया तया तत्प्रच्छन्नं स्थापितं, तां तथा कुर्वन्तीं दृष्ट्वा मम मात्रा प्रोक्तं भो पुत्रि किमेतन्निर्गतमस्ति? तयोक्तं किमपि नास्ति, एवं ते विवदन्त्यौ परस्परं योद्धुं लग्ने, इतो मे भगिनीकक्षातस्तन्निधानं मम मातुः शिरसि पतितं, मर्मप्रहारेण च सा तत्क्षणं तत्र मृता। तयोः कोलाहलं श्रुत्वावां तत्रागतौ, अनर्थकारणं तदेव निधानमालोक्य तद्भगिन्यै दत्त्वावाभ्यां वैराग्येण गुरुसमीपे दीक्षा गृहीता। ततो भो अभयकुमार! एवं गृहवासेऽनुभूतं भयमद्य मे स्मृतिमागतम्, तेन च नैषेधिकीस्थाने भयं वर्तते इति मया कथितम्।

(B) सुव्रतसाधोः कथा

ततो द्वितीयप्रहरे सुव्रतसाधुर्गुरोर्वैयावृत्त्यं कृत्वा गुरोः कण्ठे हारं दृष्ट्वा समागच्छन् भयभीतो महाभयं वर्तते इति वदन् स्वस्थाने समाययौ। तत् श्रुत्वाभयेनोक्तं भो साधो! तवापि महाभयं कुतो वर्तते, तदा स साधुरपि गृहस्थत्वेऽनुभूतस्य महाभयस्य वार्तां कथयति।

अङ्गदेशे जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति, तस्मिन् देशे सङ्ग्रामनामैको ग्राम आसीत्, तत्र ग्रामे सुव्रतनामा कौटुम्बिकोऽ-

हमवसम्, अहं च द्रव्यवान् लोकप्रियोऽक्रूरश्चासं, मम प्रियमित्राभिधा भार्यासीत्, परं सा स्वैरिणी व्यभिचारिणी परपुरुषरतासीत्, इतश्च तस्मिन् ग्रामे चौराणां धाटिः समागता, तैः स सर्वोऽपि ग्रामो लुण्टितः, अहं च भयभीतः प्रणश्य क्वापि स्थाने प्रच्छन्नं स्थितः। इतो मम भार्या भूषणादि परिधाय गृहाङ्गणे संस्थिता, तस्करैस्तत्राप्यागत्य मम गृहं लुण्टितं, तदा मम भार्यया तेभ्यः कथितं भो चौरा! यूयं मामपि गृहीत्वा गच्छत, अहं युष्माकं सार्थे समागमिष्यामि। ततस्तेऽपि तां गृहीत्वा पल्लीशाय समर्पयामासुः, पल्लीशेनापि सा स्वगेहिनी कृता।

चौरगमनानन्तरं सर्वेऽपि ग्रामलोकास्तत्र मिलिताः, समागतेन मयापि ज्ञातं यन्मे भार्या चौरैर्गृहीता, परं शीघ्रमेनां पश्चाद्वालयामीति निश्चित्याहं चौरपल्ल्यां गतः, रात्रौ चैकाया वृद्धायाः कुम्भकार्या गृहे स्थितः, मया च ततस्तस्यै भूरि धनं दत्तं, तदा हृष्टा सा वृद्धा मां प्राह, भो पुत्र! त्वमत्र किमर्थमागतोऽसि, तदा मयापि तस्यै मम भार्यायाः सकलोऽपि वृत्तान्तो गदितः, तयोक्तं प्रभातेऽहं तस्याः शुद्धिं करिष्यामि। ततः प्रभाते तया सर्वाणि तस्करगृहाणि विलोकितानि, परं सा न दृष्टा, प्रान्ते पल्लीशगृहे तां दृष्ट्वा प्रच्छन्नं तस्याः कर्णे तद्भर्तुरागमनं कथयामास। तत् श्रुत्वा तयोक्तं हे मातरद्य सन्ध्यायां पल्लीपतिर्धाट्यर्थं बहिर्यास्यति, तदा मम भर्तात्र त्वया प्रेषणीयः, यथा तेन सहाहं मम ग्रामं गमिष्यामि। ततस्तया वृद्धया समागत्य मह्यं तदुक्तं तन्निवेदितं, तत् श्रुत्वा हृष्टोऽहमपि सायं पल्लीशगृहे ययौ, तत्र तया मां सत्कृत्य भोजनं कारितं, ततो यावदावां वार्तां कुर्वन्तौ पर्यङ्कोपरि स्थितौ तावत् शकुनाभावात् स पल्लीपतिः पश्चान्निवृत्त्य पुनर्गृहे समाययौ, तमागतं विज्ञाय मे भार्ययाहं पल्यङ्काधः संगोपितः।

अथ द्वारोद्घाटनानन्तरं स पल्लीशान्तः समागत्य हस्तपादौ प्रक्षाल्य भोजनं विधाय मम भार्यया सह पल्यङ्कोपर्युपविष्टः, तदा मे

भार्यया पल्लीशं प्रति पृष्टं, भो स्वामिन्! यदि कर्मयोगान्मे स्वामीह समागच्छेत् तदा त्वं किं कुर्याः? पल्लीशेनोक्तं हे प्रिये! चेत्तव भर्तात्र समागच्छेत्तदा तं प्रणम्याहं त्वां पश्चाद्यच्छेयम्। तत् श्रुत्वा रुष्टा सा भृकुटीभङ्गं विधाय पल्लीशं प्रति ददर्श। तदा तदभिप्रायज्ञेन पल्लीशेनोक्तं हे प्रिये! एतत्तु मया त्वदग्रे हास्येन प्रोक्तमस्ति, तव भर्ता चेदत्र समागच्छेत्तदा तं नूनमहं मारयाम्येव। तत् श्रुत्वा हृष्टा सा नेत्रसंज्ञया पर्यङ्काधःस्थं मां तस्य दर्शयामास।

ततो द्रुतमेव स पल्लीपतिः समुत्थाय मां च ततो निष्कास्य चौरवद् बद्ध्वा यष्टिमुष्ट्यादिभिस्ताडयित्वा बहिः खातिकाया-मक्षिपत्। तत्र नारकवद् दुःखं सहमानस्य मे पुण्ययोगेन कश्चित् श्वा समागत्य मे चर्मरज्जुबन्धनं भक्षयामास। एवं मुक्तबन्धनोऽहं पुनरपि धैर्यमवलम्ब्य पल्लीशस्य गृहे प्रविष्टः, तत्र पल्लीशं निद्रितं विज्ञाय मया हस्ते खड्गं धृत्वा भार्यां चोत्थाप्य कथितं अरे रण्डे! चेत्किमपि जल्पसि तदामुना खड्गेन त्वां हनिष्यामि, तत् श्रुत्वा सापि मौनमाधायाग्रे चलिता।

अथ मार्गे चलन्त्या तया दुष्टया स्वचीवरखण्डानि स्थाने स्थाने प्रक्षिप्तानि। ततो रात्रेर्गमनानन्तरं भीतोऽहं स्त्रीयुतो वंशजाल्यां प्रविष्टः। अथ पल्लीपतिर्जागरितस्तां न दृष्ट्वा स्वसैन्यसहितः पदानुसारेण चीवरखण्डप्रतीत्या च मम पृष्टे तत्रैव वंशजाल्यां समायातः। मां दृष्ट्वा रुष्टो बहुभिः प्रकारैर्विडम्ब्य हस्तपादेषु कीलिकाः क्षिप्त्वा तत्रैव मुक्त्वा स मम भार्यामादाय स्वस्थाने गतः।

इत एवं दुःखमनुभवतो मम भाग्यबलेन तत्रैव वने कोऽपि कपिः समाययौ, स कपिर्मां दृष्ट्वा द्रुतं मूर्च्छां प्राप्य सचैतन्यो बभूव। ततोऽसौ वनमध्ये गत्वा कमलपत्रे नीरं समानीयागत्य मां पाययामास। ततस्तेन मम सर्वाः कीलिका निष्कास्य संरोहिण्यौषध्या तत्तत्स्थाने मम

शरीरे विलेपः कृतः, तेन च तत्क्षणमहं सज्जशरीरः संजातः। ततः स वानर उवाच भो महाभाग! किं त्वं मां नोपलक्षयसि? अहं च पूर्वभवे तव ग्रामे त्वद्गृहसमीपवास्तव्यः सिद्धाभिधो वैद्योऽभूवम्, आर्त्तध्यानाच्च मृत्वात्र वने कपित्वेन समुत्पन्नोऽस्मि। अद्य च त्वां दृष्ट्वा मम जातिस्मरण-ज्ञानमुत्पन्नमस्ति। तत् श्रुत्वा हृष्टेन मया तस्य प्रोक्तम्।

भोः कपे! अथ त्वं मम योग्यं किञ्चित्कार्यं कथय? तेनोक्तमह-मस्मिन् वने पञ्चशतवानरीयुतः सुखेनावसं, परमेकदैकेन बलिष्ठेन वानरेणागत्य मां निष्कास्य मम तत्सर्वं वानरीवृन्दं स्वायत्तीकृतमस्ति। तेन दुःखितो निराधारोऽहमत्र भ्रमंस्त्वां ददर्श, अतो भो कृपानिधे मे सहायं कृत्वा मे वानरीयूथं पश्चाद्वालय? तत् श्रुत्वाहं तेन सह वनमध्ये प्रचलितः, तत्र च तं वैरिवानरं हत्वा मया तस्य स वानरीपरिवारो वालितः। ततः स कपिरपि प्रमोदं प्राप्य तत्र वनमध्ये सुखेन तस्थौ।

अथाहं ततः पश्चाद्वलित्वा पुनरपि तस्यां चौरपल्ल्यां गत्वा तं पल्लीशं निद्रितमेव खड्गेन मारयामास। ततश्च मम भार्यां गृहीत्वा मार्गे समागच्छता मयैको मुनिर्वनमध्ये कायोत्सर्गस्थो विलोकितः। तदाहं तं प्रणम्योपविष्टः, तेनापि मे धर्मोपदेशो दत्तः, तं श्रुत्वा वैराग्येण मया दीक्षा गृहीता। अत एव भो अभयकुमार! एवं गृहस्थत्वेऽनुभूतं महाभयं स्मरता मयाधुना नैषेधिकीस्थाने महाभयं वर्तते इति प्रोक्तम्।

(C) जोयणश्रमणस्य कथा

ततस्तृतीयप्रहरे जोयणनामा साधुर्गुरोर्विश्रामणां विधायागच्छन् तस्य कण्ठे स हारं दृष्ट्वा भीतोऽतिभयं वर्तते इति वदंस्तथैवाभयेन पृष्टः स निजवृत्तान्तमब्रवीत्।

मालवदेशे उज्जयिनीनगरीसमीपे क्वचिद्ग्रामे गुणसुन्दराख्यो धनाढ्यो युवाहं कुलपुत्रोऽवसम्। उज्जयिनी पुरीस्थस्यैकस्य श्रेष्ठिनः

कन्यायाश्च मया पाणिग्रहणं कृतम्। अथैकदा तस्या आनयनार्थमहं खड्गपाणिरुज्जयिनीं प्रति चलितः, मार्गे च गच्छन् रात्रौ श्मशाने स्थितः, तत्रैकां स्त्रियं रुदनं कुर्वन्तीं श्रुत्वाहं तस्याः पार्श्वे तदा गतः, तत्रैकः शूलायामारोपितः पुरुषो मया दृष्टः, तथैव तस्य पार्श्वे रुदनं कुर्वन्ती स्थिता सा महिलापि मया दृष्टा। मया तस्यै पृष्टं, भो सुभगे! त्वं कुतो रुदनं करोषि? तयोक्तं भो सौम्यासौ शूलारोपितः पुरुषो मम भर्तास्ति, राजपुरुषैश्च निष्कारणमयं शूलायामारोपितोऽस्ति, मया च तस्यार्थे भोजनमानीतमस्ति, परमुच्चैःस्थितं तं भोजयितुमहम-समर्थास्मि। तत् श्रुत्वा मया प्रोक्तं तर्हि त्वं मम स्कन्धोपरि स्थित्वा तं भोजनं कारय? ततः सा द्रुतं मम स्कन्धोपरि चटिता, मह्यं च तया कथितं त्वयाथ ऊद्र्ध्वं नावलोकनीयम्।

इतः क्षणान्तरे मया बचबचेति तस्या मुखाच्छब्दः श्रुतः, मे स्कन्धोपरि च लघुमांसखण्डानि पतितानि, तदा भीतेन मया यावदूद्र्ध्वं विलोकितं तावत्सा शाकिनी कर्त्रिकया तस्य पुरुषस्य मांसखण्डानि त्रोटयन्ती भक्षयन्ती च दृष्टा। तत्क्षणमेवाहं तामधः पातयित्वेतः पुरं प्रति धावितः, सापि मे पृष्टे धाविता, प्रतोलीपार्श्वं प्राप्तस्य मे जङ्घा-तस्तया मांसपिण्डो गृहीतः, ततश्च सा पश्चाद्वलिता। अहं च वेदनया तत्राक्रन्दं कुर्वन् प्रतोल्यामेव पतितः, तदा मे लोकैरुक्तं भो भद्र! त्वं दुर्गाया मन्दिरे गच्छ, यथा ते स्वास्थ्यं भविष्यति।

अथ दुर्गाया मन्दिरे गतोऽहं तया प्रोक्तो भो पान्थ! किं त्वमस्य नगरस्य स्वरूपं नो वेत्सि? अस्मिन्नगरे बहवो योगिनी-भूतप्रेतादयः सन्ति, तेषां च मयेति मर्यादा कृतास्ति, यद्यो हि रात्रौ नगराद् बहिर्वसेत् स एव भवद्भिश्छलनीयः, नगरमध्यस्थितस्तु न छलनीयः, तेन चाऽज्ञातैतद् वृत्तान्तस्य तव पादे तया शाकिन्या प्रहारो दत्तः, परमधुना मम मन्दिरे त्वं सहायार्थं समागतोऽसि तेन त्वां सज्जीकरोमीत्युक्त्वा तया मे चरणः स्वहस्तेन स्पृष्टः, तेन चाहं द्रुतमेव

सज्जीभूतः।

अथ शीतार्त्तोऽहं तदा रात्रावेव श्वशुरगृहे गतः, दृढदत्तकपाटाग्रे च स्थित्वाहं गृहमध्यस्थमातृपुत्र्योर्वार्तां श्रोतुं लग्नः। मे श्वश्रूरुवाच भो पुत्रि! त्वयाद्यानीतमिदं मांसं त्वतीवमिष्टमस्ति, कस्येदं मांसं त्वयानीतं? तयोक्तं भो मातरेतत्तव जामातुर्मांसमस्तीत्युक्त्वा तया सर्वोऽपि व्यतिकरस्तस्यै प्रोक्तः, मया चैतत्सर्वं श्रुत्वातीवभीतेन चिन्तितं धिगेतद्-भामिनीविलसितं, ततोऽहं कर्मणामेव सकलं वैचित्र्यं संभाव्य तस्या उपर्यपि कोपं त्यक्त्वेतः पश्चान्निवृत्य वैराग्येण गुरोः सन्निधौ प्रव्रजितः। तेन च भो अभयकुमार! तदनुभूतं भयं स्मरता मया नैषेधिकीस्थानेऽतिभयं वर्तते इति कथितम्।

(D) धन्यनिर्ग्रन्थस्य कथा

ततश्चतुर्थे यामे धन्यनामा साधुर्गुरोर्वैयावृत्त्यं विधायागच्छन् भयातिभयं वर्तते इति च वदन् पूर्ववदभयेन पृष्टः स्ववृत्तान्तं जगाद।

उज्जयिन्यामजितसेनाभिधो राजा राज्यं चकार, तत्र सुधनाभिधः श्रेष्ठी परिवसति स्म, तस्य सुभद्राख्या प्रिया, तयोश्चाहं धन्याभिधः पुत्रोऽस्मि। पुनर्मे श्रीमत्यभिधा भार्या पतिव्रता विनययुता चासीत्, तस्या विनयेन संतुष्टोऽहं कदापि तद्वाक्योल्लङ्घनं नाकुर्वम्। अथैकदा तां मे प्रियां म्लानवदनां दृष्ट्वा मया पृष्टं, भो प्रिये! किमर्थं त्वमुद्विग्न-चित्तासि? परं तया लज्जया किञ्चिदपि नोक्तं, ततो महताग्रहेण मया पृष्टया तयोक्तं हे स्वामिन्! कस्तूरीमृगपुच्छमांसादने ममाभिलाषो वर्तते, तदा मया पृष्टं भो प्रिये! स मृगः कुत्रास्ति? तयोक्तं हे स्वामिन्! स तु कष्टदायिनि स्थाने वर्तते, तेन त्वां तत्र प्रेषयितुं नाहमिच्छामि, यतो भवदीयं वियोगं सोढुं नाहं समर्थास्मि। तत् श्रुत्वा प्रेमबद्धेन मया प्रोक्तं हे प्रिये! त्वं सुखेन कथय? कष्टं सहन्नपि तव मनोवाञ्छितमहं

पूरयिष्ये।

तदा तयोक्तं स्वामिन् राजगृहनगरे श्रेणिकराज्ञो गृहे स मृगः क्रीडार्थमानीतोऽस्ति। तत् श्रुत्वा मयोक्तं हे प्रिये! त्वं स्वस्था भव, अहं नूनं तन्मांसमानयिष्ये। इत्युक्त्वाहं गृहाद्विनिर्गत्य राजगृहासन्ने उद्याने प्राप्यैकतरोस्तले स्थितः। तदा तत्रैका गणिका सखीवृन्दपरिवृता क्रीडार्थं समागता। तां सुरूपां वीक्ष्य गगनाध्वना गच्छन् कश्चिद्विद्याधरो मोहितः संजहार। तदा तस्याः परिवार आक्रन्दं कर्तुं लग्नः, तत् श्रुत्वाहमपि धनुर्हस्ते गृहीत्वा तं विद्याधरं शरेण हत्वा भूमावपातयम्। तदा सा गणिका तस्य हस्तात्सरोवरे पतिता, ब्रुडन्ति च सा मया तन्मध्यान्निष्कासिता। ततः सा ममोपर्यधिकप्रीतिं धारयन्ती मां स्वगृहे नीत्वा भूरिसत्कारपुरस्सरं स्नानादिपूर्वकं भोजनं कारयामास।

ततस्तया मम प्रोक्तं भो सुभग! किमर्थं त्वमत्रागतोऽसि? मम योग्यं कार्यं कथय? तदा मयापि तस्या अग्रे मम भार्याव्यतिकरो निवेदितः। तदा तया चिन्तितं नूनमयं मुग्धोऽस्ति, स्त्रीचरित्रं च न जानाति। इति ध्यात्वा तया प्रोक्तं हे सत्पुरुष! तव भार्या दुःशीलास्ति, तत् श्रुत्वा मुग्धेन मयोक्तं भो गणिके! मद्भार्यातुल्या सती जगत्यपि नास्ति, तदा सापि मौनं धृत्वा स्थिता।

अथान्येद्युस्तया मम प्रोक्तं भो सुभग! अद्याहं श्रेणिकनृपसभायां नृत्यार्थं गमिष्यामि, ततस्त्वयापि तद्विलोकनाय तत्रागन्तव्यमित्युक्त्वा सा नृपसभायां गता, अहमपि तन्नृत्यविलोकनमिषेण तत्र गतः, इतस्ततो भ्रमता मया तत्र स मृगो दृष्टः, प्रच्छन्नवृत्या च तं हत्वा मया तन्मांसं गृहीतम्। इतो मृगरक्षकैरहं दृष्टश्चौरवद् बद्ध्वा च नृपान्तिके नीतः, नृत्यन्त्या तया गणिकया चाहमुपलक्षितः।

अथ तस्या नृत्येन मुदितो राजा तां प्रति वरत्रयं ददौ, तया प्रोक्तमहं पश्चान्मे मनोवाञ्छितं याचयिष्ये। अथ नृत्ये विसृष्टे तैरारक्षकैरहं

राज्ञोऽग्रे समानीतः, मृगमरणवार्ता च कथिता, तत् श्रुत्वा राज्ञादिष्टं तस्कर इवायं हन्यतामिति। तत् श्रुत्वा गणिकया प्रोक्तं हे स्वामिन्! ममैकेन वरेणायं जीवन् मुच्यतां तदा राज्ञापि मुक्तोऽहं तया स्वगृहे समानीतः। अन्येद्युर्मया गणिकायै प्रोक्तं, भो सुभगे! चेत्तवाज्ञा तर्ह्यहं स्वगृहं यामि। तयोक्तं हे सुभग! अहमपि त्वया सह समागत्य तव भार्यायाश्चरित्रं दर्शयिष्ये, इत्युक्त्वा सापि मया सहोज्जयिनीं प्रति चचाल। ततस्तयोक्तोऽहं तामुपवने मुक्त्वा स्वयमेकाकी रात्रौ प्रच्छन्नं गृहे गत्वा तत्रैककोणे सुप्तः। तदैको विटपुरुषो मम गृहे समागतः, मम स्त्रिया च सत्कृत्यासौ पल्यङ्के स्थापितः, ततः सा तेन सह विविधप्रकारैः संभोगं विधाय श्रान्ता सती सुप्ता, स विटोऽपि तां दृढमालिङ्ग्य निद्रां प्राप्तः, ततः क्रुद्धेन मयोत्थाय स विटः खड्गेन व्यापादितः, पुनरप्यहमन्धकारे तत्रैव गृहकोणे सुप्तः। क्षणान्तरे सा मम भार्या जागरिता तं स्वजारं मृतं विज्ञाय तत्रैव गृहमध्ये गर्तां कृत्वा तं च तत्र निक्षिप्य तस्योपरि पीठं चकार।

प्रभाते चाहं प्रच्छन्नं गृहान्निर्गत्य तस्या गणिकायाः पार्श्वे समागत्य सर्ववृत्तान्तनिवेदनपुरस्सरमवदम्, हे प्रिये! त्वया यदुक्तं तत्सर्वं सत्यमेवास्ति, मया मूर्खेणेयत्कालं तन्न मानितम्। ततोऽहं गणिकया सह पश्चाद्राजगृहेऽगच्छम्। कियद्दिवसैः पुनरहं स्वगृहे समागतः, मां समागतं विलोक्य कूटस्नेहपरया तया प्रोक्तं भो स्वामिन्! विदेशे गतस्य तव बहवो दिवसाः कथं जाताः? मयोक्तं प्रिये! त्वदर्थं तन्मृगमांसं गवेषयतो मे भूयान् कालो गतः, परं तन्न लब्धम्। तयोक्तं हे स्वामिन् भवद्दर्शनतोऽद्यतनो मे दिवसः सफलो जातः, इत्युक्त्वा तया मनोहरं भोजनं निष्पादितं, ततो यदाहं भोजनायोपविष्टस्तदा तया पापिन्या प्रथमं तस्य पीठस्योपरि बलिं मुक्त्वा पश्चान्मह्यं भोजनं परिवेषितं, एवं च सा प्रत्यहं चकार।

अथैकदा मया प्रोक्तं हे प्रिये! अद्य त्वं घृतपूरान्निष्पादय? मां च मुक्त्वान्यस्य कस्यापि त्वया प्रथमं ते न देयाः, तत् श्रुत्वा तया संभ्रमेणोक्तं हे स्वामिंस्त्वत्तोऽधिको मम कोऽपि नास्ति। ततस्तया कटाह्यां तप्तघृते घृतपूराः कर्तुं प्रारब्धाः, ततस्तया मायाविन्याहोऽयं घृतपूरो दग्ध इत्युक्त्वा स एको घृतपूरः पीठोपरि मुक्तः। तदा क्रुद्धेन मया प्रोक्तं रे पापिनि किमत्र पीठान्तस्तव जनकस्य निधानमस्ति? इति मे वचनं श्रुत्वा क्रुद्धया तयापि मम शीर्षे कटाहीस्थितं तत्तप्तघृतं क्षिप्तं, तेन च मे सर्वं शरीरं दग्धं, अतीवव्यथितोऽहं पूत्कारं कुर्वंस्ततो नंष्ट्वा मे जनकगृहे गतः, तत्र मम मातृपितृकृतनानाप्रकारप्रतिकारैः कियत्कालानन्तरमहं स्वस्थो जातः। ततो मया चिन्तितं धिगेनं गृहस्था-वासमिति वैराग्येण गुरोः पादान्ते दीक्षाङ्गीकृता। एवं भो अभयकुमार! तदनुभूतं भयं स्मरताद्य मयाधुना नैषेधिकीस्थाने भयातिभयं वर्तते इति प्रोक्तम्।

ततः सूर्योदये जातेऽभयकुमारोऽपि पौषधं पारयित्वा सूरिसमीपे गतः, तत्र च सूरिकण्ठे तं हारं दृष्ट्वा तेन चिन्तितमहो साधुभिः सत्यमेव तद्भयादि प्रोक्तं, अहो नूनं ते निर्लोभाः साधवो धन्याः सन्ति, अथ स गुरुं वन्दित्वा तं हारं गृहीत्वा राज्ञे समर्पयामास। अतो भो कुञ्चिकश्रेष्ठिन्! साधवः सर्वदा निर्लोभा एव भवन्ति। कुञ्चिकेनोक्तं हे भगवन्! साधवो नूनमेवंविधा एव भवन्ति, परं त्वयीदृग्गुणो न विद्यते, भवता तु मृगेन्द्रतुल्यं कृतम्। मुनिनोक्तं हे श्रेष्ठिन्! कोऽसौ मृगेन्द्रः? श्रेष्ठी कथयामास-

(१४) मृगेन्द्रस्य कथा

वाणारस्यां नगर्यां जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति स्म, तस्य पार्श्वे देवदत्ताभिध एकश्चिकित्सकोऽभूत्, तस्य मनोरमाभिधा भार्यासीत्,

तयोः क्रमेण जीवानन्दकेशवाभिधौ पुत्रौ जातौ, परं तौ बालत्वे एव विमुच्य तयोः पिता पञ्चत्वं प्राप्तः, तदा राजा तयोः पितुः स्थानेऽन्यो वैद्यः स्थापितः। स च राज्ञः सन्मानतः समृद्धिवान् जातः। अथैकदा सोऽभिनवो वैद्य आभूषणादिभूषितस्तुरङ्गममारुह्य राजपुरुषैः परिवृतः स्वगृहाग्रतो गच्छन् मनोरमया दृष्टः, तं दृष्ट्वा सा रुदितुं प्रवृत्ता, तदा पुत्राभ्यां पृष्टं भो मातस्त्वं कुतो रुदनं करोषि? जननी प्राह भो पुत्रा! अस्य वैद्यस्य सदृश एव नृपमानित ऋद्धिवांश्च युवयोरपि पिता पुरासीत्, परं युवयोर्वैद्यकशास्त्रानभ्यासतस्तत्सर्वं गतं, तेन दुःखेनाहं रुदनं करोमि।

तत् श्रुत्वा ताभ्यामुक्तं हे मातरथावामप्यत्र शास्त्राभ्यासं कृत्वा तामेव पदवीं लास्यावः मात्रा प्रोक्तं भो पुत्रावत्रेर्ष्यया युवां कोऽपि न पाठयिष्यति, अतो चम्पानगर्यां गच्छतम्, तत्र ज्ञानगर्भाख्यो द्विजो भवज्जनकस्य परमः सखास्ति, स च युवां पाठयिष्यति। तत् श्रुत्वा तौ तत्र गतौ, सर्वाणि शास्त्राणि चाधीत्य पश्चादागच्छन्तौ तावन्तराले मार्गे पतितमेकमन्धं मृगेन्द्रं ददर्शतुः। तं दृष्ट्वा वृद्धभ्रात्रा लघुं प्रति प्रोक्तं, हे भ्रातरस्यान्धस्य मृगेन्द्रस्य चक्षुषी सज्जीकृत्योपकारं कुर्वः।

तदा लघुनोक्तं हे बान्धव! उपकारस्तु मनुष्यादिजीवानां कृतः श्रेयसे, न तु हिंसकप्राणिनां, इत्युक्त्वा स तु वृक्षोपरि चटितः, निर्बुद्धिना वृद्धभ्रात्रा तु तस्य सिंहस्य चक्षुषोश्चूर्णं प्रक्षिप्तं, तेन च स पञ्चाननो दिव्यनेत्रः संजातः, अत्यन्तक्षुधार्त्तश्च स तमेव वृद्धं भ्रातरं व्यापाद्य भक्षयामास। लघुभ्राता च ततः सुखेन स्वगृहमाययौ। एवं भो साधो! यथा तेन मृगेन्द्रेण स्वोपकारिणोऽपि दुःखं कृतं, तथा त्वयापि मे धनं हरता कृतम्। साधुरुवाच भो श्रेष्ठिन्! त्वमेवं मा वद? साधवस्तु मेतार्यमुनितुल्या भवन्ति, तस्य दृष्टान्तं शृणुः–

(१५) मेतार्य-मुनि-कथा
तदन्तर्गत-चन्द्रावतंसक-नृपकथा

इहैव जम्बूद्वीपे दक्षिणार्धभरतखण्डे साकेतपुराभिधं नगरमस्ति, तत्र च चन्द्रावतंसकाख्यो राजास्ति, तस्य प्रियदर्शना-पद्मावत्याख्यौ राज्ञ्यौ स्तः, प्रियदर्शनायाः सागरचन्द्रमणिचन्द्राख्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः, पद्मावत्याश्च गुणचन्द्रबालचन्द्राभिधौ द्वौ तनुजन्मानावभूताम्। राजा तु जैनधर्मपरायणः सर्वदा पर्वतिथिषूपवासं करोति स्म। अथैकदा तेन राज्ञाष्टमीदिने पौषधव्रतं गृहीतं, तेन च स्वगृहोपाश्रये स सन्ध्यायां कायोत्सर्गध्यानेन स्थितः, मनसि च तेनेति निश्चयः कृतो यद्यावदयं समीपस्थो दीपः स्थास्यति तावदहं कायोत्सर्गे स्थास्यामि, राज्ञश्च तं निश्चयमन्यः कोऽपि न जानाति।

अस्मिन्नवसरे दास्या पुनरपि तस्मिन् दीपपात्रे तैलप्रक्षेपः कृतः, एवं यदा यदा स दीपो निस्तेजो भवति तदा तदा सा पुनः पुनस्तत्र तैलं प्रक्षिपति। दासी च मनसीति चिन्तयति यन्मम स्वाम्यन्धकारे कथं स्थास्यतीति प्रभुभक्तितत्परा सा प्रदीपं ज्वालयामास। एवं रजन्याश्चत्वारोऽपि प्रहरा गताः, राज्ञापि तावत्कायोत्सर्गो न पारितः, ततः, सूर्योदये जाते प्रदीपः स्वयमेवोपशान्तः, राज्ञा च कायोत्सर्गः पारितः, परं सुकुमालत्वात्स श्रमतो ऽधः पतित्वा मृतः।

अथ राज्ञो मृत्युक्रियाकरणानन्तरं सामन्तादिभिस्तस्य पुत्रचतुष्टयं प्रति राज्यग्रहणाय विज्ञप्तं, तदा तैश्चिन्तितं राज्यं नूनमन्ते नरकप्रदं भवति, परमत्याग्रहेण तैः सागरचन्द्राय तद्राज्यं दत्तं एवं न्यायेन राज्यं पालयन् स सागरचन्द्र एकदा चतुरङ्गसैन्ययुतश्छत्र-चामरादिशोभितो बहिरुद्याने क्रीडार्थं गच्छन् पद्मावत्या राज्ञ्या दृष्टः,

तं तथाविधं दृष्ट्वा तस्या मनस्यतीर्ष्या समुत्पन्ना, चेन्मे पुत्रो राजा भवेत्तदा तस्याप्येवंविधं सुखमहमीक्षे।

अथोद्याने नानाविधां क्रीडां कृत्वा परिश्रान्तो राजा तरोस्तले समुपविश्य निजसेवकेन स्वमातुः पार्श्वाद् भोजनमानाययत्। स सेवकोऽपि भोजनार्थं द्रुतं द्रुतं गच्छन् पद्मावत्या दृष्टः पृष्टश्च भो सेवक! त्वं द्रुतं द्रुतं कथं गच्छसि? तेनोक्तं भो मातरहं राज्ञोऽर्थं भोजनग्रहणाय तस्य मातुः पार्श्वे गच्छामीत्युक्त्वा स तत्र गतः। अथ तया दुष्टया पद्मावत्या चिन्तितमद्य चेत्सागरचन्द्राय विषं यच्छेयं तदा मे पुत्रस्य राज्यं भवेत्, इति ध्यात्वा तया मोदकमादाय पश्चादागच्छतस्तस्य सेवकस्य हस्तात्प्रेक्षणमिषेण तं मोदकमादाय विषयुक्तस्वहस्तेन स्पृष्ट्वा पुनस्तस्मै स मोदको दत्तः।

अथ स सेवकोऽपि द्रुतमागत्य तं विषप्रलिप्तं मोदकं नृपाय ददौ। तस्मिन्नवसरे पद्मावत्याः पुत्रौ गुणचन्द्रबालचन्द्रौ राज्ञः पार्श्वे समुपविष्टावास्तां, उचितज्ञेन राज्ञा स मोदकः खण्डीकृत्य ताभ्यामेव दत्तः, परं स्वयं न भक्षितः। तद्भक्षणानन्तरं तत्कालमेव तौ विषमूर्छितौ भूमावपतताम्। तदा भृशं दुःखितेन राज्ञा पृष्टः स सेवको मोदकानयन-सर्वव्यतिकरं जगौ, तदा राज्ञापि पद्मावत्यास्तत्कपटं ज्ञातम्। तस्मिन्नवसरे कश्चित्साधुस्तत्रागत्य गरुडाध्ययनस्य पाठं कर्तुं लग्नः, तदा गरुडदेवस्तत्रागत्य तयो राजकुमारयोर्विषमपाहरत्। तौ सज्जीभूतौ दृष्ट्वा राजादयः प्रमुदिताः स्वगृहं समाजग्मुः।

अथ सागरचन्द्रः पद्मावतीं प्रणम्य प्राह भो मातरथानेन राज्येन मे प्रयोजनं नास्ति, पूर्वमेव मया तु तव पुत्रयोः राज्यदानार्थं कथित-मासीत्, परं ताभ्यां भवत्या च तन्निषेधः कृतोऽभूत्, अथानेन नरकप्रदेन राज्येन मेऽलमित्युक्त्वा स श्रीधर्मघोषमुनिपार्श्वे दीक्षां जग्राह। ततोऽसौ भव्यजीवान् प्रबोधयन् मह्यां विजहार। अथ सर्वेषामनुमत्या सामन्ता-

दिभिर्मणिचन्द्राय राज्यं दत्तं, सोऽपि पितेव न्यायेन राज्यं पालयामास। तस्य कनकमालाभिधा जैनधर्मरता पट्टराज्ञ्यासीत्।

अथैकदा तया सुखसुप्तया स्वप्ने वृषभो दृष्टः, जागरिता सा तं स्वप्नवृत्तान्तं भर्तुः पुरः कथयामास, राज्ञाप्युक्तं भो सुभगे! तव पुत्रो भविष्यति, परं वक्रस्वभावात्कुटिलमत्यान्वितो भविष्यति। ततः समये तस्याः पुत्रो जातः, तस्य दृढरथ इति च नाम स्थापितम्। यौवनं प्राप्तोऽसौ कपटकुशलो जैनधर्मनिन्दकः साधुपराभवतत्परो विषयासक्तश्च संजातः। तस्य निसढाख्यो मन्त्रिपुत्रस्तथैव दुर्गुणोपेतः सुहृद् बभूव। तयोः पराभवभीतः कोऽपि साधुस्तस्यां नगर्यां न समायाति। राजादि-परिवारैर्वार्यमाणावपि तौ स्वदुराचारान्न विरमेते। कदाचित्कोऽप्यज्ञातः साधुश्चेत्तयोर्दृष्टिगोचरीभवेत्तदा तं तौ विडम्बयतः स्म। एषा वार्ता सर्वत्र विस्तृता, तेन तीर्थयात्रार्थमपि कोऽपि साधुस्तत्र नागच्छति। तां वार्तां निशम्यैकदा सागरचन्द्रमुनिना स्वगुरवे विज्ञप्तं, हे भगवन्! चेद्भवतामाज्ञा तदा साकेतपुरे गत्वाहं राजपुत्रमन्त्रिपुत्रौ प्रतिबोधयामि।

अथ गुरुणानुज्ञातोऽसौ विहरन् क्रमेण साकेतपुरे समाययौ। आहारार्थं च राजमन्दिरे गतोऽसौ राज्ञ्यादिभिर्बहुमानपुरस्सरं प्रतिलाभितः। इतो गवाक्षस्थाभ्यां राजपुत्रमन्त्रिपुत्राभ्यां समाकारितोऽसौ सागरचन्द्रमुनिर्नृपसेवकैर्निवारितोऽपि तयोः पार्श्वे उपरितनभूमौ गतः। तदा ताभ्यां प्रोक्तं भो मुने! त्वं नृत्यं कर्तुं जानासि? मुनिनोक्तं जानामि। परं चेद्युवां सम्यग्गायनं करिष्यथस्तदाहमपि नृत्यं करिष्यामि। अथ ताभ्यां गायनं प्रारब्धं, मुनिश्च नृत्यं कर्तुं लग्नः। एवं क्षणं नृत्यं विधाय मुनिनोक्तं रे युवां मूर्खौ सम्यग्गानं कर्तुं न जानीथः, ताभ्यां प्रोक्तं रे मुण्ड! त्वमेव सम्यग् न नृत्यसीत्युक्त्वा यावत्ताभ्यां मुनिं ताडयितुं यष्टिर्हस्ते धृता, तावन्मुनिना विद्याबलेन तौ स्तम्भितौ, भग्नसर्वाङ्ग-सन्धिकौ च कृत्वाक्रन्दं कुर्वन्तौ भूमौ पतितौ। साधुस्तु स्वोपाश्रयं

गतः।

अथ यावत्स मणिचन्द्रो राजा भोजनायोपविष्टस्तावत्तत्र पुत्रं न दृष्ट्वा स्वसेवकैर्गृहमध्ये तस्य गवेषणां कारयामास। तैरागत्य राज्ञे प्रोक्तं हे स्वामिन्! कुमारश्च मन्त्रिपुत्रश्च द्वावप्युपरितनभूमावाक्रन्दं कुर्वन्तौ भग्नास्थिसन्धिकौ स्थितौ स्तः, ततो राजा साध्वागमनवार्तां ज्ञात्वा हृदि दूनो यावद्धर्मशालायां गतस्तावत्तत्र स्वभ्रातरमुपलक्ष्य लज्जा-नम्राननो नमस्कृत्योवाच हे भगवन्! युष्मादृशां महात्मनामेतत्कार्यं कर्तुं न युज्यते। मुनिनोक्तं हे राजन्! त्वं धर्मधुरन्धरो भूत्वापि स्वपुत्रं साधुकदर्थनातः कथं न निवारयसि। राज्ञोक्तं हे भगवन्! तं ममापराधं क्षमित्वाथ तौ मूर्खौ सज्जीकुरु, मुनिनोक्तं चेत्तौ दीक्षां स्वीकरिष्यतस्तदैव तौ सज्जीकरिष्यामि, नान्यथा। ततो राज्ञा तौ तत्र मुनिपार्श्वे समानीतौ, भीताभ्यां ताभ्यामपि तस्य पार्श्वे दीक्षाङ्गीकृता।

अथ स राजपुत्रस्तु शुद्धमनसा दीक्षां निरतिचारेण पालयति, परं मन्त्रिपुत्रः किञ्चिज्जुगुप्सापूर्वकं दीक्षां पालयति, मनसि चेति चिन्तयति यज्जैनधर्मोऽभ्यन्तरे शुचिरस्ति, बहिस्तु स्नानादिरहितो मालिन्ययुक्तोऽस्ति। एवं चिन्तयता तेन नीचजातिगोत्रकर्म समुपार्जितम्। अथ कियता कालेन तौ द्वावप्यनशनपूर्वकं मृत्वा देवलोके देवौ बभूवतुः। तत्र देवसम्बन्धिसुखानि भुञ्जानौ तावेकदा श्रीमहाविदेहक्षेत्रे गतौ। तत्र सुरासुरनरैः सेव्यमानः केवलज्ञानोपेतः कश्चिदेको मुनिस्ताभ्यां दृष्टः, स च सुरविरचितसुवर्णकमलोपरि स्थितो भव्यानां धर्मोपदेशं ददौ। देशनानन्तरं ताभ्यां देवाभ्यां मुनये पृष्टं हे भगवन्नावां भव्यावभव्यौ वा? मुनिनोक्तं युवयोर्मध्यान्नृपकुमारजीवो देवस्त्वं सुलभबोधिरसि, अपरो मन्त्रिकुमारजीवो देवस्तु दुःखेन बोधिं प्राप्स्यति। ततस्तौ देवौ मुनिं नत्वा स्वस्थाने गतौ।

अथ परमप्रीतियुताभ्यां ताभ्यां परस्परमिति निश्चयः कृतो

यदावयोर्मध्याद्यः प्रथमं मनुष्यभवं प्राप्नोति, तस्यापरेण देवेन हठादपि प्रतिबोधो देयः, एवं परस्परं शपथादि कृत्वा तौ तत्र सुखेन कालं गमयतः स्म।

(१६) मेतार्यमुनेः कथा

इतश्च स पुरोहितजीवो देवस्ततश्च्युत्वा राजगृहनगरे मातङ्गी-कुक्षौ पुत्रत्वेनोत्पन्नः। अथ तत्रैव पुरे धनावहाभिध एको महेभ्यो वसति, तस्य भद्राभिधा भार्यास्ति, सा पुत्रपुत्र्यादीन् प्रसूते, परं तान्यपत्यानि मृत्युमाप्नुवन्ति, तस्य श्रेष्ठिनो गृहे सा मातङ्गी प्रत्यहं भूमिशुचि-करणाय समागच्छति, तया सह श्रेष्ठिन्याः प्रीतिर्जाता। एकदा तां भद्रां सन्ततिवियोगेन म्लानवदनां निरीक्ष्य तया मातङ्ग्या प्रोक्तं, हे भद्रे! त्वं किमर्थं सचिन्तासि? मम योग्यं कार्यं कथय? भद्रयोक्तं हे सखि तव करणयोग्यं कार्यं त्वेतदेवास्ति, यः सन्तानस्तव जायते, स त्वया मेऽर्पणीयः, मम च यः सन्तानो भविष्यति तमहं तुभ्यं दास्ये। मातङ्ग्यापि शपथपूर्वकं तदङ्गीचक्रे।

अथ कियद्भिर्मासैर्द्वयोरप्येकस्मिन् दिने एव पुत्रौ जातौ। तदा मातङ्ग्या स्वपुत्रः श्रेष्ठिन्यै, श्रेष्ठिन्या च स्वपुत्रो मातङ्ग्यै प्रच्छन्नं दत्तः, एतद् वृत्तान्तं च कोऽपि न जानाति। मातङ्गीगृहीतः श्रेष्ठिनी-पुत्रस्तु तत्कालमेव मृतः। अथ धनावहः श्रेष्ठी स्वगृहे पुत्रोत्सवं चकार। वर्धापनादिपुरस्सरं श्रेष्ठिना तस्य मेतार्य इति नाम दत्तम्। शनैः शनैः स वृद्धिं प्राप्नुवन् सकलकलासंपूर्णो जातः।

इतश्च राजपुत्रजीवः स देवस्तस्य प्रतिबोधनाय रात्रौ स्वप्नमध्ये-ऽकथयद् भो मित्र! त्वं दीक्षां गृहाण? परं स प्रतिबोधं न प्राप्नोति। अथाष्टमहेभ्यकन्याभिः सह तस्य विवाहार्थं श्रेष्ठिना सामग्री कृता। इतो देवेन तमप्रतिबुद्धं विज्ञाय तत्कालं तस्य तौ वणिग्मातापितरा-

वदृश्यीकृत्य मातङ्गमातङ्ग्यौ तत्पितृत्वेन प्रकटीकृतौ। तौ च लोकानां पुर इति कथयामासतुर्यदयं त्वावयोः पुत्रोऽस्ति, आवाभ्यां च स श्रेष्ठिने मूल्येन दत्तोऽस्ति। तत् श्रुत्वा सर्वेऽपि स्वजना लज्जिताः, मातङ्गद्वन्द्वं च तमश्वादुत्तार्य मांसादिदुर्गन्धास्पदे स्वगृहे समानयत्।

अथ तं मेतार्यं शोकातुरं दृष्ट्वा मातङ्ग उवाच, भो पुत्र! त्वं शोकं मा कुरु? अहं मातङ्गकुलोद्भूतया सुरूपया मनोहरया कन्यया सह तव पाणिग्रहणं कारयिष्यामि। तेनेत्युक्तोऽपि स विशेषेण खेदमापन्नो भोजनाद्यकुर्वन् रात्रौ निद्रां प्राप्तः। तदा स देव आगत्य तमुवाच भो मित्र! अधुनापि त्वं प्रतिबुध्यस्व? तेनोक्तं त्वं कोऽसि? तदा देवेन सर्वोऽपि पूर्वभवे परस्परं निश्चितो वृत्तान्तस्तस्मै गदितः, तं श्रुत्वा हृष्टेन मेतार्येणोक्तं भो देव! संप्रति मम भोगेच्छा वर्तते, अतोऽधुना त्वं ममेच्छां पूरय? मम दुष्कुलोद्भवं कलङ्कं च दूरीकुरु? पश्चात्समयेऽहं नूनं दीक्षामादास्ये।

तदा हृष्टेन देवेनैकश्छागस्तस्यार्पितः, कथितं चायं छागः प्रत्यहं विष्ठास्थाने रत्नानि दास्यति, तानि रत्नानि च स्थाले भृत्वा राज्ञे देयानि, परं किमपि न मार्गणीयं, राजा च यत्किञ्चित्कथयेत्तत्सर्वं ममाग्रे वक्तव्यमित्युक्त्वा स देवः स्वस्थानं गतः। मेतार्येणापि तत्सर्वं देवोक्तं मातङ्गाय निवेदितम्। अथ मातङ्गोऽपि तानि रत्नानि प्रत्यहं राज्ञे प्राभृतीचकार। अन्यदा राज्ञा तस्मै प्रोक्तं भो मातङ्ग! त्वं सर्वदा किमर्थं मे रत्नानि प्राभृतीकरोषि? त्वदग्रे चेयन्ति रत्नानि कुतः समागतानि? मातङ्गेनोक्तं हे प्रभो! मम गृहे एकश्छागोऽस्ति, स च सर्वदा विष्ठास्थाने रत्नानि मे यच्छति। तदा राज्ञोक्तं तर्हि तं छागं मे देहि। हृष्टेन मातङ्गेनापि स छागो देवाज्ञया राज्ञे दत्तः।

अथ राज्ञो गृहे बद्धः स छागो दुर्गन्धां विष्ठां मुमोच। तदा राज्ञा तं पश्चान्मातङ्गाय दत्त्वा प्रोक्तं भो मातङ्ग! त्वं मनोवाञ्छितं याचस्व।

तदा देवतादिष्टमातङ्ग उवाच हे प्रभो! तव पुत्रीं मम पुत्राय देहि। तत् श्रुत्वा क्रुद्धो राजा मातङ्गं कशाघातैस्ताडयितुं लग्नः, तदाभय-कुमारो राजानं व्यज्ञपयत् हे स्वामिन्नेनं मातङ्गं मा मारय। एतत्सर्वं देवविलसितं दृश्यते, ततो नृपादिष्टोऽभयकुमारस्तद्देवविलसितपरीक्षणार्थं मातङ्गं प्रत्युवाच, भो मातङ्ग! यदि त्वं राजकन्यां याचसे तदास्म-दुक्तानि कार्याणि कुरुष्व। चेत्त्वं तानि कार्याणि करिष्यसि, तदा राजा स्वकन्यां तव पुत्राय दास्यति। मातङ्गेनोक्तं करिष्यामि, कथय मे तानि कार्याणि।

अभयेनोक्तं भो मातङ्ग! अस्मिन् वैभारपर्वते सेतुर्बन्धनीयः, राजगृहनगरस्य परितो रत्नमयकपिशीर्षयुक्तः स्वर्णदुर्गः कर्तव्यः, तदनन्तरं त्वं क्षीरसागरनीरैः स्वपुत्रस्य स्नानं कारय? अथ मेतार्येण तत्सर्वं देवाय कथितं, देवेनापि तत्सकलं तत्कालं कृतम्। तदा राज्ञापि महोत्सवपूर्वकं तस्य गुणसुन्दर्याख्या स्वपुत्री परिणायिता। तैर्महेभ्यैरपि स्वीयाष्टकन्यास्तस्य परिणायिता। एवं ताभिः सह सुखमनुभवतस्तस्य मेतार्यस्य भूयान् कालो गत। इतः स देवः समागत्य तं प्रत्युवाच भो मित्रेदानीं त्वं संयमं गृहाण? मेतार्येणोक्तं

भो मित्र! अथ द्वादशवर्षावधि गृहस्थत्वेऽहं स्थास्यामि, पश्चान्निश्चिंतं संयमं लास्यामि। देवोऽपि तथास्त्वित्युक्त्वा स्वस्थाने गतः। द्वादशवर्षान्ते पुनः स देवः समागतः, तदा तस्य भार्याभिर्विज्ञप्य द्वादशवर्षाणि पुनर्याचितानि, देवेनापि तथा कृतम्। पुनरपि द्वादशवर्षान्ते देवेनागत्य प्रतिबोधितो मेतार्यो निजनवभार्याभिर्युतः श्रीवीरसमवसरणे गत्वा दीक्षां जग्राह। सूत्रार्थमधीत्य विविधतपांसि कुर्वन् सोऽनुक्रमेण विहरन्नन्यदा राजगृहे समायातः। मासक्षपणपारणे चाहारार्थं भ्रमन् स एकस्य स्वर्णकारस्य गृहे गतः, स स्वर्णकारः प्रत्यहं नृपजिनपूजा-निमित्तमष्टोत्तरशतसुवर्णयवान् करोति।

अथ स स्वर्णकारस्तान् यवांस्तत्र मुक्त्वा मुनिदानायाहारग्रहणार्थं गृहान्तर्गतः, [1]इतः स[2] देवः क्रौञ्चपक्षिरूपं विधाय तत्रागत्य तान् यवान् भक्षयामास, तत्र स्थितेन मेतार्यसाधुना स व्यतिकरो दृष्टः, अथ सुवर्णकारो गृहमध्यादागतस्तान् यवानदृष्ट्वा चिन्तयामास, नूनमनेन मुनिना लोभेन मे यवा गृहीताः सन्तीति ध्यात्वा स मुनये पप्रच्छ, भो मुने! एते यवाः केन गृहीताः? जीवदयां चिन्तयता मुनिना तूत्तरं न दत्तम्। तदा क्रुद्धः सुवर्णकारस्तं मुनिमेकान्ते धृत्वा यष्ट्यादि-भिस्ताडयित्वार्द्रचर्मदवरकं तस्य शिरसि दृढं संवेष्ट्य तमातपे धारयामास।

अथ स मुनिर्दुस्सहव्यथां संप्राप्य धर्मध्यानपरोऽन्तकृत्केवलीभूय शिवं ययौ, इतस्तेन क्रौञ्चेन ते यवास्तत्र वमिताः, तान् दृष्ट्वा पश्चात्तापं प्राप्तः सुवर्णकारो राज्ञो जामातुर्मारणेनातीवभीतो द्रुतं श्रीवीरप्रभुपार्श्वे गत्वा दीक्षां जग्राह। एवं भो कुच्चिकश्रेष्ठिन्! साधवस्तु मेतार्यमुनिवन्निर्लोभा भवन्ति, ते हि स्वयं कष्टं सहन्ते, परं परेषां जीवानां दयामेव धारयन्ति। श्रेष्ठिनोक्तं हे भगवन्! परं यूयं तादृशा न, भवद्भिस्तु सुकुमालिकावत् कृतघ्नत्वमेव कृतमस्ति।

मुनिनोक्तं कीदृशी सा सुकुमालिका?

(१७) सुकुमालिकायाः कथा

श्रेष्ठिनोक्तं चम्पाभिधनगरे जितशत्रुराजा राज्यं करोति स्म, तस्य सुकुमालिकाभिधा पट्टराज्ञ्यासीत्, तस्यामासक्तो राजा प्रत्यहं राज्यकार्यं त्यक्त्वान्तःपुरे एव तस्थौ। तदा राजकार्याणि सीदन्ति वीक्ष्यान्यदा मन्त्रीश्वरेण राज्ञे कथितं, हे राजेन्द्र! अथ त्वं राजसभा-मलङ्कुरु, सामन्तादयः सर्वेऽपि भवद्दर्शनाय समुत्सुका जाताः सन्ति।

1. इतिवार्ता चिन्तनीयेति 2. कश्चित् इति प्रतिभाति ।।

एवं बहुप्रकारैरुक्तोऽपि राजा स्वभार्यासक्तिं न मुमोच। तदा सर्वैर्मिलित्वा तस्य पुत्रो राज्ये स्थापितः, ततो मदिराघूर्णितौ तौ राज्ञीनृपौ पल्यङ्के सुप्तावेव रात्रौ सामन्तादिभिरुत्पाट्य गहने वने मुक्तौ।

अथ प्रभाते समुत्थितौ तौ स्वसौधादिकमपश्यन्तौ सर्वं व्यतिकरं मनसि ज्ञात्वा परदेशे गन्तुं लग्नौ। एवं चलन्तौ तौ भयङ्करे कान्तारे प्रविष्टौ। तदा सुकुमालिकया प्रोक्तं हे स्वामिन् मे नीरं! देहि। नीरं विनाहं क्षणमपि स्थातुं शक्ता नास्मि। राज्ञा तदेतस्ततो विलोकितं परं नीरं क्वापि न दृष्टम्। तदा राज्ञा स्वभुजतो रुधिरं निष्कास्य तस्याः पायित्तम्। ततोऽग्रे चलन्त्या तया प्रोक्तं हे स्वामिन्नथ मे भोजनं देहि। राज्ञा वनमध्यात्स्वादूनि फलान्यानीय तस्यै दत्तानि, परं तैस्तस्यास्तृप्तिर्न जाता। तदा राज्ञा स्वजङ्घां विदार्य मांसखण्डानि तस्यै दत्तानि। एवं चलन्तौ तावनुक्रमेण वाणारस्यां नगर्यां गतौ। तत्राभूषणानि विक्रीय ताभ्यामेकं गृहं भाटकेन गृहीतं, तत्र क्रयविक्रयादि-व्यापारं कुर्वता तेन स्तोकं धनमप्युपार्जितम्।

अथैकदा तया सुकुमालिकया राज्ञे प्रोक्तं हे स्वामिन्! यूयं तु सन्ध्यां यावद् व्यापारार्थं हट्टे एव तिष्ठथ, तेनैकाकिन्या मे गृहे तिष्ठन्त्या दिवसो न याति। राज्ञोक्तं हे प्रिये! त्वं धैर्यं कुरु?

अथैकदा हट्टस्थितस्य नृपस्य पार्श्वे नगरमध्ये परिभ्रमन् कोऽपि पङ्गुः पुरुषः समागत्य मधुरस्वरेण गायनं चकार। राज्ञोक्तं भो खञ्ज! चेत्त्वया मम गृहे स्थीयते तदाहं तुभ्यं भोजनवस्त्राणि दास्यामि। पङ्गुनापि तत्प्रतिपन्नम्।

अथ सन्ध्यायां राजा तेन पङ्गुना सह गृहमागत्य राज्यै तस्य वृत्तान्तं कथयित्वा तं गृहमध्ये स्थापयामास। अथैकान्तसंसर्गेण राज्ञी कामातुरा सती तेन पङ्गुनापि सह सर्वदा भोगविलासं कर्तुं प्रवृत्ता। एकदा च सा निजहृदीति चिन्तयामास चेदहमेनं राजानं मारयामि।

तदा निःशंकमनेन पङ्गुना सह दिवा रात्रौ कामक्रीडां कर्तुं शक्ता भवामि।

अथैकदा वसन्तमासे सर्वेऽपि नगरलोकाः क्रीडार्थं जाह्नवीतटे वनमध्ये गताः, तदा तौ दम्पती अपि तत्र गतौ। तत्र तया दुष्टया सुकुमालिकया जाह्नवीविलोकनमिषेण रात्रौ राजा गङ्गाजलमध्ये पातितः, स्वयं च सदने गत्वा तेन पङ्गुना सह भोगविलासमकुर्वत्। इतो राजापि कर्मयोगेन नद्या उपकण्ठे पतितः स्त्रियो दुश्चेष्टितं विज्ञाय ततो विनिर्गत्य सुप्रतिष्ठितनगरोद्याने गत्वा सुप्तः। इतस्तस्य नगरस्य राजाऽपुत्रको मृतः, प्रधानपुरुषैः पञ्चदिव्यान्यधिवासितानि। अथ यत्रोद्याने स जितशत्रुर्नृपः सुप्तोऽस्ति तत्र तानि पञ्चदिव्यानि गतानि। गजेन कलशजलेन सोऽभिषिक्तः, ततः प्रधानादिभिस्तं नृपं संस्थाप्य तस्य प्रणामः कृतः, एवं च स तत्र सुखेन राज्यं पालयामास।

अथ तत्र पङ्गुना सह विलसन्त्या तया सुकुमालिकया स्वीयं सर्वं धनं विनाशितम्। ततः सा तं पङ्गुं मस्तके धृत्वा नगरमध्ये भिक्षाटनं करोति स्म, लोकानां पुरश्च कथयति यदयं पङ्गुर्मे भर्तास्ति। लोका अपि तस्याः पतिव्रतत्वं प्रशंसन्तस्तस्यै भिक्षां यच्छन्ति। एवं ग्रामाद्ग्राममटन्ती सा क्रमेण तस्मिन् सुप्रतिष्ठितनगरे समाययौ। तत्रापि भिक्षाटनं कुर्वन्ती सा पौरैः पृष्टा, भो सुभगेऽयं पङ्गुः पुरुषः कोऽस्ति? सावददयं मे स्वामी वर्तते। लोकैरुक्तं रूपसौन्दर्यवत्यास्तव कथमयं पङ्गुर्भर्ता जातः? तयोक्तं मदीयभाग्ययोगेन पित्रानेन पङ्गुना सार्धमहं परिणायितास्मि, तेन चैनमहं परमेश्वरमिवाराधयामि। तत् श्रुत्वा लोकैस्तस्या भूरिप्रशंसा कृता। क्रमेण सा वार्ता राज्ञोऽग्रेऽपि समागता। तस्मिन्नेवावसरे तौ दम्पती भिक्षार्थं राज्ञः समीपे समागतौ, पङ्गुश्च नृपमनोरञ्जनाय गानं कर्तुं लग्नः, राज्ञापि तावुपलक्षितौ। सभ्याश्च तस्याः शीलं मुहुर्मुहुः प्रशंसन्ति।

अथ नृप उवाच भो सुभगेऽयं भर्ता तव केन दत्तोऽस्ति? तयोक्तं

हे राजन्! मम जनकेनायं दत्तास्ति, सती चाहमेनमीश्वरमिवाराधयामि। तत् श्रुत्वा राजा स्वशिरो धूनयित्वोवाच, अहो! जगति ते सतीत्वमद्भुतं वर्तते, यया स्वस्वामिनो हस्ताद्रुधिरं पीतं, जङ्घायाश्च मांसं भक्षितं, पुनः स एव स्वामी गङ्गानीरमध्ये पातितस्तस्यास्तव सतीत्वस्य का वार्ता! इत्युक्त्वा राज्ञा तस्याः सर्वमपि दुश्चेष्टितं लोकानामग्रे प्रकाशितम्। तत् श्रुत्वा भयकम्पिताङ्गी सा राज्ञा स्वदेशाद् बहिर्निष्कासिता।

एवं भो मुने! त्वयापि सुकुमालिकेव ममापकारः कृतोऽस्ति। मुनिनोक्तं भो कुञ्चिकश्रेष्ठिन्! त्वमेवं मा वद, यदि तव प्रतीतिर्न भवेत्तदाहं शपथपूर्वकं भद्रवृषभवत् करिष्यामि। श्रेष्ठी प्राह वृषभेण कथं कृतम्? मुनिराह-

(१८) भद्रवृषभस्य कथा

चम्पानगर्यामजितसेनाभिधो राजासीत्, तत्रैको मठेश्वरः परिवसति स्म। तस्य गोकुलद्वयमासीत्, तन्मध्ये चैकया धेन्वैको वृषभः प्रसूतः, स च क्रमेण यौवनं प्राप्तो मदोन्मत्तो जातः सन् स्वेच्छया नगरमध्ये विचरति स्म। लोकैश्च तस्य सूर्यसण्ढ इत्यभिधां विधाया-ङ्कितोऽसौ गोकुलमध्ये मुक्तः।

अथ तत्रैव नगरे जिनदासाभिध एकः श्राद्धो वसति स्म। स च सम्यक्त्वमूलद्वादशव्रतधारको धर्मिष्ठो नृपवल्लभस्तत्त्वज्ञस्त्रिकालं जिनार्चां कुर्वन् पर्वतिथिषु पौषधव्रतं गृह्णाति। रात्रौ च स कस्मिंश्चित् शून्यगृहे गत्वा कायोत्सर्गं करोति। तस्य धनश्री नाम्नी भार्यासीत् परं सा स्वैरिणी कुलटा असतीमुख्या प्रत्यहं भर्तारं वञ्चयित्वा शून्य-गृहादिषु गत्वान्यपुरुषैः सार्धं रमते।

अथान्यदा यत्र स जिनदासः कायोत्सर्गेण स्थित आसीत्तत्रैव

शून्यगृहे सा रात्रौ गत्वा जारेण समं पल्यङ्के सुप्ता। तत्र पल्यङ्के चतुःपादेषु चत्वारो लोहकीलका आसन्, तेष्वेकेन कीलकेन जिनदास-पादो विद्धः, ततः पल्यङ्कोपरि सुप्ता सा तेन जारेण सह भृशं कामक्रीडामकरोत्। तत्रान्धकारे कायोत्सर्गस्थितेन जिनदासेन तत्सर्वं दृष्टं, परं तेन मनसि मनागपि क्रोधो नानीतः। एवं च दुस्सहवेदना-मनुभवन् स चतुःप्रहरान्ते स्वायुः परिपूर्य मृत्वा देवो जातः।

अथ निशाशेषे तौ जागरितौ, तया च यावत्स पल्यङ्क उत्पाटि-तस्तावज्जिनदासो भूमौ पतितः, चरणनिर्गतरुधिरेण च विलिप्तः। अथ तं दृष्ट्वा भयभीता धनश्रीर्यावत्तत्र स्थिता तावत्स वृषभो भ्रमंस्तत्रागतः। तदा तया धनश्रिया तस्य शृङ्गयो रुधिरं लिप्त्वेति पूत्कृतं, भो लोकाः! शीघ्रमागच्छत? मम स्वामी वृषभेणानेन व्यापादितः। तदा तत्र मिलितैर्लोकैर्वृषभशृङ्गे रुधिरलिप्ते ज्ञात्वा स वृषभो यष्ट्यादि-भिस्ताडितः, परं वक्तुमशक्तः स वृषभस्तेषामग्रे केवलं स्वशिरो धूनयति, परं तस्य तां संज्ञां कोऽपि न जानाति। तदा वृषभेण चिन्तितमिमे लोका मे कूटं कलङ्कं यच्छन्ति, तेनाहं शपथं करोमीति ध्यात्वा स नगरारक्षकपार्श्वे गत्वा स्वशिरो धूनयामास। तदा केनाप्यारक्षकाय प्रोक्तं नूनमयं वृषभोऽत्र शपथकरणायागतोऽस्ति, तदा वृषभेणापि स्वमुखमधः कृत्वा तथैव ज्ञापितम्।

अथ सर्वे नगरलोकास्तं वृषभं लोहकारशालायामानयामासुः। तत्राग्नितप्तं लोहगोलकमुत्पाट्य यल्लोकास्तन्मस्तके मुञ्चन्ति तावत्तेन वृषभेण मुखतः स्वजिह्वा बहिर्निष्कासिता। लोकैरपि तस्य जिह्वाया उपरि स तप्तो लोहगोलको मुक्तः, परं तस्य जिह्वा न ज्वलिता, प्रत्युत स गोलकोऽपि शीतो जातः, तदा विस्मयं प्राप्तैर्लोकैरित्युद्घोषितं यदयं वृषभस्तु सर्वथा निर्दोषोऽस्ति। ततो लोकास्तस्य वृषभस्य कण्ठे हारं समारोप्य तं पूजयामासुः, धनश्रियं च भृशं विडम्ब्य राजा स्वदेशाद्

बहिर्निष्कासयामास।

ततो भो कुञ्चिकश्रेष्ठिन्! चेत्तवेच्छा तदाहमपि वृषभ इव करोमि। श्रेष्ठिनोक्तं हे भगवन्! यूयं तु गृहगोधातुल्याः संजाताः।

मुनिनोक्तं का सा गृहगोधा? श्रेष्ठी प्राह –

(१९) गृहगोधायाः कथा

क्वचिद्ग्रामे एकस्मिन् गृहे एका गृहगोधा वसति स्म। एकदा सा रात्रौ निद्रावशात्स्वनेत्रे संमील्य सुप्ता। ततश्चक्षुर्मलेन व्याप्ते स्वनयने सोद्घाटयितुं न शशाक। अरुणोदये च तस्याश्चक्षुषोरुपरि बहवो मक्षिकाः समुपविश्य तच्चक्षुर्मलं भक्षयामासुः, तेन च तस्या नयनोद्घटनं जातम्। तदैव तया ताः सर्वा अपि मक्षिका भक्षिताः। एवं याभिर्मक्षिकाभिस्तस्या उपकारः कृतस्ता एव मक्षिकाः सा भक्षयामास।

अतो भो साधो! त्वयापि ममैवमेव कृतम्। पुनर्हे भगवन्! यश्चौर्यकर्मनिपुणोऽस्ति तस्य हृदयमपि कठिनं भवति, अतस्तेन कृतः शपथोऽपि कथं मन्यते? मुनिनोक्तं भो श्रेष्ठिन्! तादृशः कूटकलङ्को मुनिभ्यो दातुं तव न युज्यते, त्वया बुद्धिमता च सत्यासत्ये विमृश्यैव कार्यं कर्तुं युज्यते, यथा सुबुद्धिमन्त्रिणा स्वबुद्धिपूर्वकं कार्यं कृतम्।

श्रेष्ठी प्राह हे भगवन्! कोऽसौ सुबुद्धिमन्त्री? मुनिराह–

(२०) सुबुद्धिमन्त्रिणः कथा

चम्पकमालाभिधानायां पुर्यां वसुपालाभिधो राजा राज्यं करोति स्म। तस्य महाबुद्धिवान् सुबुद्धिनामा मन्त्री बभूव। पुनस्तत्रैव नगरे धनाढ्यो लोकप्रियश्चाभिनवाख्यः श्रेष्ठी वसति स्म। तस्य सुन्दर्यभिधा पुत्रिकासीत्, तस्य गृहस्य पार्श्वे धनपालाभिध एको निर्धनो वणिग् वसति स्म, तस्याप्येका कङ्कुनाम्नी पुत्र्यासीत्। ते द्वे अपि कन्यके

परस्परं परमप्रीतिपरे सख्यावास्ताम्। अन्यदा ते द्वे अपि सख्यौ जलक्रीडां कर्तुं वाप्यां गते। तदा सुन्दरी स्वाभरणान्युत्तार्य वाप्याः कण्ठोपर्यमुञ्चत्।

अथ कङ्कुस्तु जलक्रीडां विधाय प्रथममेव बहिरागत्य सुन्दर्या आभूषणानि स्वयं परिधाय द्रुतं स्वगृहे जगाम। ततः क्षणान्तरे सुन्दर्यपि जलमध्याद् बहिरागता स्वाभूषणान्यपश्यन्ती गृहे समागत्य जनकाग्रे तत्स्वरूपं निवेद्य रुदितुं प्रवृत्ता। अभिनवश्रेष्ठ्यपि धनपालाग्रे गत्वा स्वाभरणान्ययाचत, धनपालेनोक्तमेतान्याभूषणानि तु मम सुतायाः सन्ति। एवं तौ द्वावपि विवदमानौ सुबुद्धिमन्त्रिणोऽग्रे गतौ। मन्त्रिणापि ते द्वे कन्ये समाहूय तान्याभूषणान्यप्यानायितानि। अभिनवश्रेष्ठिकन्या तु शरीरे स्थूलासीत्, धनपालस्य पुत्री च निर्धनत्वेन कृशशरीरासीत्। अथ मन्त्रिणा धनपालसुतायै समादिष्टं भो पुत्रि! यदीमान्याभूषणानि तव सन्ति तदा तैस्तव शरीरं त्वमलङ्कुरु।

अथ तया निर्धनपुत्र्या परिचयाभावात्तान्याभूषणानि बहुसमयेनापि विपरीतरीत्या स्वशरीरे धृतानि, तथा कृशशरीरत्वात्तानि स्थूलान्याभूषणानि तस्याः शरीरे शोभामपि न प्राप्तानि। ततो मन्त्रिणादिष्टया सुन्दर्या तु द्रुतमेव तानि स्वशरीरे यथास्थानं परिहितानि, तस्याः शरीरे च तानि प्रमाणोपेतानि शोभां संप्रापुः। तदा मन्त्रिणा स्वबुद्ध्या विचारितं नूनमेतान्याभूषणानि सुन्दर्या एव सन्ति। इति ध्यात्वा तान्याभूषणानि तस्मै अभिनवश्रेष्ठिने समर्प्य मन्त्री धनपालं चौरवद्दण्डयामास।

अतो भो श्रेष्ठिंस्त्वयाप्येतद्विषये बुद्धिबलेन विचार्य निर्णेतुं युज्यते। श्रेष्ठिनोक्तं भो मुने! यूयं नूनं द्विजतुल्याः स्थ।

मुनिनोक्तं कोऽसौ द्विजः? श्रेष्ठिनोक्तं–

(२१) दरिद्रद्विजस्य कथा

मगधदेशे क्वचिद् ग्रामे कश्चिदेको निर्धनो द्विजो वसति स्म, एकदा तत्र भयङ्करो दुष्कालः पतितः तदा तत्र स्वोदरं दुर्भरं विज्ञाय तेन द्विजेन चिन्तितमथाहं द्रव्योपार्जनाय किञ्चिदुपायं करोमीति ध्यात्वा तेनैका काष्ठमयी दुर्गामूर्तिः कारिता, तां च सिन्दूरादिभिर्विलिप्य सार्थं गृहीत्वा स ग्रामाद्ग्राममटनमकरोत्, लोकानां पुरश्च तस्या दुर्गाया महान्तं प्रभावं वर्णयामास। एकस्मिन् ग्रामे च कस्यचिदपुत्रिणः श्रेष्ठिनस्तस्याः पूजाप्रभावतः काकतालीयन्यायेन पुत्रो जातः, एवंविधं तस्याः प्रभावं दृष्ट्वा ग्रामवासिनः सर्वेऽपि लोकास्तां दुर्गामूर्त्तिं धनधान्यादिभिः सदा पूजयामासुः। एवं धनागमनतः स द्विजः कियद्भि र्दिनैर्महर्द्धिको जातः। ततस्तेन स्वर्णमयीं दुर्गामूर्त्तिं कृत्वा चिन्तितमियं धनप्राप्तिस्तु मे कर्मप्रभावतो जातास्तीति ध्यात्वा तेन सा काष्ठमयी दुर्गामूर्तिरवकरे प्रक्षिप्ता।

अतो भो मुने त्वयाप्येवं कृतम्। मुनिनोक्तं भो श्रेष्ठिन्! साधवस्तु जिनदत्ततुल्या भवन्ति।

श्रेष्ठिनोक्तं हे भगवन्! कोऽसौ जिनदत्तः? मुनिरुवाच-

(२२) जिनदत्तस्य कथा

वसन्तपुरे जितशत्रुनामा नृप आसीत्। तत्रैव पुरे जीवाजीवादि-तत्त्वज्ञो जिनदासश्रेष्ठिपुत्रो जिनदत्ताभिधः सुश्रावको बभूव। स च यौवनं प्राप्तोऽपि वैराग्यवासितो दीक्षाग्रहणेच्छुः कस्या अपि कन्यायाः पाणिग्रहणं नेच्छति स्म। स चैकदा मित्रमण्डलपरिवृतो नगरोद्याने गतः, तत्र चैकमुत्तुङ्गशृङ्गमण्डितं जिनमन्दिरं स ददर्श।

अथ स जिनदत्तो हर्षोल्लसितमानसो विधिना जिनमन्दिरे प्रविश्य कुसुमादिभिः श्रीजिनाधीशमभ्यर्च्य यावच्चैत्यवन्दनं कर्तुं प्रवृत्तस्तावत्तत्रैका कन्या समागत्य स्वोत्तरीयेण मुखकोशं विधाय कस्तूरीमिश्रितैः कुङ्कुमादिसद्द्रव्यैर्जिनप्रतिमाया मुखमण्डनार्थं कपोलस्थले पत्रवल्लरीं कर्तुं लग्ना। तदा जिनदत्तस्तां कन्यां जिनभक्तितत्परां वीक्ष्य विस्मितचित्तः स्वसुहृदं प्रति प्राह, भो सुहृदः! कस्यैषा कन्यास्ति? हसद्भिस्तैः प्रोक्तं हे मित्र! किं त्वं न जानासि? इयं हि प्रियमित्रसार्थवाहस्य सर्वनारीशिरोमणिर्जिनमत्यभिधा पुत्री वर्तते, यथा त्वं रूपलावण्यादिगुणैः पुरुषेषु शिरोमणिरसि, तथेयमपि नारीगणेषु श्रेष्ठास्ति। चेद्युवयोर्विवाहः स्यात्तदा विधेर्निर्माणप्रयासोऽपि सफलो भवेत्। मित्राणामिति वचनानि श्रुत्वा जिनदत्तोऽवदत्।

भो सुहृदोऽत्र जिनमन्दिरे युष्माकं हास्यवचनानि वक्तुं न युज्यते। किं च मां दीक्षाभिलाषिणं यूयं किं न जानीथ? मया त्वस्या जिनभक्तिं वीक्ष्य केवलं नीरागत्वेनैव समाचारः पृष्टः। इत्युक्त्वा यावत्स स्थितस्तावज्जिनमत्यापि तस्य सन्मुखं वीक्षितं, तदा तं रूपलावण्यादिगुणोपेतं दृष्ट्वा सापि तस्मै रागवती जाता, सखीभिश्चापि तस्या मनोऽभिप्रायो ज्ञातः। ततो गृहं गत्वा तस्या अभिप्रायस्ताभिस्तज्जनकस्याग्रे प्रोक्तः।

अथ जिनदत्तोऽपि गृहे गत्वा भोजनं विधाय हट्टे समागत्य व्यापारं व्यधात्। इतश्च जिनमतीपिता प्रियमित्रो जिनदासश्रेष्ठिपार्श्वे गत्वा सर्वं वृत्तान्तं निवेद्य जिनदत्ताय स्वपुत्रीमयच्छत्। जिनदासेनापि हृष्टेन तत्प्रतिपन्नम्। उक्तं च—

ययोरेव समं वित्तं, ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च, न तु पुष्टविपुष्टयोः ।।२५।।

ततो जिनदासेन सन्मान्य विसृष्टः स प्रियमित्रश्रेष्ठी स्वगृहं जगाम। अथ गृहप्राप्तस्य जिनदत्तस्याग्रे पित्रा स विवाहसमाचारो निवेदितः! तदा तेनोक्तं भो तात! अहं तु न परिणेष्यामि, मे मनसि तु दीक्षाग्रहणाभिलाषो वर्तते। तदा पित्रोक्तं हे पुत्र! सा कन्या तव किं कदापि मिलिताऽभूत्? तदा जिनदत्तेनापि जिनभवनगमनादिवृत्तान्तः पित्रे निवेदितः। ततः पित्रा महताग्रहेण कथिते स मौनं विधाय तस्थौ।

अथैकदा सा जिनमती कन्या गृहाद् बहिर्गच्छन्ती वसुदत्तनाम्ना पुरारक्षकेण दृष्टा, तां दृष्ट्वा कामातुरोऽसौ तस्याः पितुः पार्श्वे गत्वा पाणिग्रहणार्थं तामयाचत। तदा तेन जल्पितं, भो आरक्षक! एषा तु मया जिनदासश्रेष्ठिसुताय जिनदत्ताय दत्तास्ति, तेन तदन्यथा कर्तुं न शक्यते। उक्तं च—

सकृज्जल्पन्ति राजानः, सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः ।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ।।२६।।

तत् श्रुत्वा स दुष्टात्मा रुष्टः सन् जिनदत्तोपरि वैरं धारयामास, दिवानिशं च तस्य छिद्राण्यन्वेषयामास। अथैकदा राजा सपरिवार-स्तुरङ्गारूढो बहिरुद्याने गतः, तत्र वेगेन तुरङ्गमक्रीडां कुर्वतस्तस्य कर्णादेकं कुण्डलं क्वापि पतितं, तद्विलोकनाय राज्ञा स वसुदत्त आरक्षक आदिष्टः, ततो नृपादेशाद्यावत्कुण्डलविलोकनाय स प्रचलितस्ता-वत्तेनारक्षकेण तस्मिन् मार्गे केनचित्कार्येण गच्छन् स जिनदत्तो विलोकितः।

अथ तत्र पतितं कुण्डलं विलोक्य जिनदत्तस्तं मार्गं त्यक्त्वान्येन मार्गेण गतः। यतः—

आत्मवत्सर्वभूतानि, परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
मातृवत्परदाराणि, यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।

इतः पृष्टे समागच्छन् स वसुदत्तोऽपि तत्र पतितं कुण्डलं गृहीत्वा नृपपार्श्वे समागत्य नृपाय समर्पयामास। तदा हृष्टो नृप उवाच भो भद्र! त्वयेदं कुण्डलं कुतो लब्धं? तदा तेन दुष्टधिया द्वेषभावतो नृपाग्रे प्रोक्तं, हे स्वामिन्! मयैतज्जिनदत्तात्प्राप्तम्। तत् श्रुत्वा विस्मितो नृप उवाच भो आरक्षक! स जिनदत्तस्तु महाधर्मिष्ठो विचारवानस्ति, स हि चौर्यं कुर्यादिति कथं संभवेत्? यतः—

पतितं विस्मृतं नष्टं, स्थितं स्थापितमाहितम् ।
अदत्तं नाददीत स्वं, परकीयं क्वचित्सुधीः ।।२८।।

इति राज्ञोक्ते पुनर्वसुदत्तोऽब्रवीत् हे स्वामिन्! जिनदत्तसदृशस्तु कोऽपि तस्करो नास्ति। तत् श्रुत्वा क्रुद्धेन राज्ञा चिन्तितमहोऽसौ जिनदत्तस्तु धर्मधूर्तो जातः, तेनासौ वध्य एवेति ध्यात्वा तेनारक्षकाय प्रोक्तं भो वसुदत्त! तर्हि तं जिनदत्तं विडम्बनापूर्वकं मारय, एवं नृपेणादिष्टोऽसौ मुदितः सन् द्रुतं तं जिनदत्तं गृहीत्वा रासभे समारोपयत्, ततो रक्तचन्दनेन तस्य वपुषि विलेपं विधाय तं पुरीमध्ये त्रिकचतुष्पथादिष्वभ्रामयत्। तं तथा विडम्ब्यमानं दृष्ट्वा स्थाने स्थाने पौरैर्हाहारवः कृतः।

इतस्तं कोलाहलं श्रुत्वा समीपस्थगृहगवाक्षे समागता जिनमती तं स्वप्रियं जिनदत्तं दृष्ट्वा रुदनं कुर्वन्तीति स्वचित्ते चिन्तयामास, अहोऽयं मे स्वामी धर्मिष्ठो दयावान् देवगुरुभक्तितत्परोऽपि कर्मवशात्कीदृशीं दुर्दशां प्राप्तोऽस्ति, इतो जिनदत्तोऽपि तां विलोक्य स्नेहपरः स्वचेतसीति चिन्तयामास, अहो मे दुष्कर्मयोगेनास्याः सुलोचनाया मिलनमपि न संजातं, अथ कदाचिद्दैवयोगेन चेदस्मात्कष्टान्मे मोक्षो भविष्यति, तदानया सह पाणिग्रहणं विधाय भोगान् भोक्ष्ये, अन्यथा मे सागारमनशनं भवत्विति चिन्तयन् स आरक्षकेण क्रमाद्वधस्थाने समानीतः।

अथ जिनमत्यपि स्वहस्तचरणान् प्रक्षाल्य गृहचैत्ये समागत्य शासनदेवतां हृदि ध्यात्वा जिनदत्तस्य कष्टनिवारणाय शुद्धबुद्ध्या कार्योत्सर्गे स्थिता। इतस्तस्याः शीलप्रभावेण निबिडभक्त्या च सन्तुष्टा सा शासनदेवता तत्र त्रीन् वारान् जीर्णतृणमिव शूलिकां बभञ्ज। तदा तेन दुष्टेनारक्षकेण स जिनदत्तो वृक्षशाखायामुद्बद्धः, तदा देवतया रज्जुच्छेदो विहितः। तदातीवरुष्टेन तेन खड्गप्रहारा दत्ताः, तेऽपि तस्याङ्गे कुसुमस्रज इव संजाताः। तदा विस्मितैर्लोकैः स वृत्तान्तो राज्ञोऽग्रे निवेदितः, तदा राजापि भयविस्मययुतस्तत्र गत्वा तं जिनदत्तं प्रणम्य गजारूढं च विधाय स्वसभायामानयत्। ततो राज्ञा बहुमानपूर्वं विनयेन पृष्टो जिनदत्तः सर्वं सत्यं वृत्तान्तं नृपाग्रे निवेदयामास। तदाकर्ण्य रुष्टो राजा तमारक्षकं वधायादिशत्। तावता दयापरेण जिनदत्तेन विज्ञप्तो राजा तं जीवन्तमेव स्वदेशान्निष्कासयामास। ततो राजा जिनदत्ताय पञ्चाङ्गप्रसादं विधाय महोत्सवपूर्वकं तं स्वगृहे प्रेषयामास।

ततः प्रियमित्रव्यवहारिणा जिनदत्तस्याग्रे जिनमतीविहित-कायोत्सर्गादिवृत्तान्तो निवेदितः। तत् श्रुत्वातीवहृष्टेन जिनदत्तेनापि शुभलग्ने महोत्सवपूर्वकं तया जिनमत्या सार्धं पाणिग्रहणं कृतम्। तया सह कियत्कालं भोगान् भुक्त्वा प्रान्ते जिनदत्तः सकलत्रो वैराग्यं प्राप्य सुस्थिताचार्यपार्श्वे दीक्षामादाय चिरं च तां पालयित्वा शुभध्यानेन मृत्वा स्वर्गं ययौ।

तेन भो कुञ्चिकश्रेष्ठिन्! साधवस्तु जिनदत्ततुल्या भवन्ति। तत् श्रुत्वा कुञ्चिकश्रेष्ठिना प्रोक्तं, हे भगवन्! परं यूयं तु निषादसदृशाः स्थ। मुनिनोक्तं कोऽसौ निषादः? श्रेष्ठी प्राह–

(२३) विश्वासघातिनिषादस्य कथा

इह जगति वानरशताकीर्णा हरिकान्ताभिधा पुरी वर्तते, तत्र च वानरप्रतिपालनतत्परो हरिपालनामा भूपाल आसीत्। तस्यामेव नगर्यां क्रूरो यमकिङ्करप्रायो निर्दयः कृतघ्नशिरोमणिरेको निषादोऽभूत्। स पापात्मा नित्यं वने गत्वा वराहशूकरहरिणादिश्वापदान् मारयति। तस्मिन् वने राज्ञा पालिताः बहवो वानरा वसन्ति स्म, तेषां मध्ये मांसादिविरता दयादाक्षिण्यशालिनी एका वानर्यासीत्। एकदा स निषादः शस्त्रपाणिर्मृगयार्थं तस्मिन् वने गतो महाभयङ्करं व्याघ्रमेकं ददर्श। तं दृष्ट्वा भीतोऽसौ निकटस्थे वृक्षे समारूढः। तत्र च तां प्रसारितमुखां वानरीं दृष्ट्वा स पुनर्भयभीतो जातः। इतः स व्याघ्रोऽपि तं निषादं मारयितुं गर्जंस्तस्य वृक्षस्याधः समाययौ।

अथ तं भयभीतं ज्ञात्वा सा सुशीला वानरी स्वास्यं प्रसन्नं विधाय तस्यान्तिके निषण्णा सती भगिनीव तस्य केशान् विवृणितुं लग्ना। तदा स श्रान्तो निषादोऽपि गतचिन्तः सन् तस्या उत्संगे शिरो निधाय प्रसुप्तः। तदा स व्याघ्रो वानरीं प्रत्युवाच, हे भद्रे! जगति कृतमुपकारं कोऽपि न जानाति, मनुष्यस्तु विशेषेण न जानाति। अत्रार्थे च त्वमेकां कथां शृणु:-

(२४) तदन्तर्गत-कूपपतित-वानर-सर्प-व्याघ्र-मानव समुद्धृतद्विजस्य कथा

क्वचिद्ग्रामे शिवस्वामिनामैको द्विज आसीत्, एकदा स द्विजस्तीर्थयात्रार्थं स्वमन्दिरान्निर्गत्य देशान्तरे भ्रमन्नेकस्यां महाटव्यां निपतितः। तदा स तृषार्त्तः सन् जलं विलोकयन्नेकं जीर्णकूपं ददर्श। तदा तृणमयं रज्जुं विधाय तस्य प्रान्ते भाजनं बद्ध्वा स जलार्थं

कूपेऽक्षिपत्। तदा तं दवरकं विलग्य कूपमध्यादेको कपिर्बहिर्निगतः। तदा स द्विजो दध्यौ नूनं परोपकारेण ममैष श्रमः सफलो जातः। अथ द्वितीयवेलायां दवरके क्षिप्ते व्याघ्रसर्पौ समागतौ। तौ च तं जीवितदायकं ब्राह्मणं प्रणामं चक्रतुः। तदा तेषां मध्यात्तेन जातिस्मरणज्ञानिना वानरेण भूमावक्षराणि लिखित्वा द्विजं प्रतीति ज्ञापितं, भो द्विज वयं त्रयोऽपि मथुरानगरीसमीपे वसामः, अतः कदापि त्वया तत्रागन्तव्यं, वयमपि तव किञ्चिदातिथ्यं करिष्यामः। किं चास्मिन् कूपमध्ये एको मनुष्योऽपि पतितोऽस्ति, परं स त्वया न निष्कास्यः, यतः स हि महाकृतघ्नोऽस्तीति कथयित्वा ते त्रयोऽपि स्वस्थानं ययुः।

ततो द्विजेन चिन्तितमेष वराको मनुष्योऽपि कूपात्कथं न कृष्यते? उपकारो हि स्वशक्त्या सर्वस्यापि विधेय एव। मनुष्यजन्मनो हि एतदेव फलमिति विचिन्त्य विप्रेण पुनरपि दवरकं कूपे क्षिप्त्वा स मनुष्योऽपि निष्कासितः। ततो द्विजेन तस्य पृष्टं भो नरोत्तम! त्वं जात्या कः? कुत्र च वससि? इति पृष्टे स प्राह, अहं मथुरावासी स्वर्णकारः केनचित्कारणेनात्र समागतस्तृषार्दितः कूपे पतितः कूपमध्यप्ररूढवृक्षशाखामालम्ब्य यावदहं स्थितोऽभूवम् तावत्तें वानराद-योऽप्यत्र पतिताः, समानकष्टत्वात्परस्परं वैरं त्यक्त्वा च वयमत्र स्थिताः। इतो भो उपकारिंस्त्वया वयं बहिर्निष्कासिताः।

अथ भो द्विज! त्वयैकवारं मथुरायामागन्तव्यमित्युक्त्वा स स्वस्थानं ययौ। ततः स द्विजोऽपि भूमण्डले भ्रमंस्तीर्थानि च नमस्कु-र्वन्नन्यदा मथुरासमीपोपवने प्राप्तः। तदा स वानरस्तत्र तं दृष्ट्वा समुपलक्ष्य च प्रमुदितः सन् पेशलैः फलैस्तस्य प्रतिपत्तिं चकार। एतावता तेन व्याघ्रेणापि तं विप्रं निरीक्ष्य समुपलक्ष्य चेति चिन्तितमेष महान् पुरुषो मम जीवितदायकोऽस्ति, अतोऽस्याहं किञ्चिदुपकारं करोमीति विमृश्य स वाटिकामध्ये गत्वाऽविवेकत्वेन राजसुतं हत्वा

तस्य बहुमूल्यमाभरणं समादाय तस्मै जीवितदायिने विप्राय दत्त्वा प्रणामं चाकरोत्, तदा विप्रोऽपि त्वं दीर्घायुर्भवेत्याशिषं दत्त्वा मथुरा-नगरीमध्ये गत्वा तस्य स्वर्णकारस्य गृहं पृच्छन् क्रमेण तत्र ययौ।

तदा दूरादेव तं समागच्छन्तं विलोक्योपलक्ष्य च स सुवर्णका-रोऽधोदृष्टिः स्वकर्म कर्तुं लग्नः। तदा द्विजेनोक्तं भो सुवर्णकार! किं त्वं मां नोपलक्षयसि? तेनोक्तमहं सम्यग्नोपलक्षये, इति तेनोक्ते विप्रः पुनरुवाच, अहो! पुरा येन त्वमटवीमध्ये कूपात्समुद्धृतः सोऽहं विप्रस्तव प्राघूर्णकः समागतोऽस्मि। इत्युक्त्वा स तत्रोपविश्येति जगाद, भो मयेदं भूषणं दक्षिणायां यजमानाल्लब्धमस्ति, अस्य मूल्यविधौ च त्वमेव विचक्षणोऽसि, तत एतद् गृहीत्वा मे यथायोग्यं मूल्यं देहीति कथयित्वा तस्य समीपे तद्भूषणं विमुच्य स द्विजो नद्यां स्नानं कर्तुं ययौ।

इतः स स्वर्णकारस्तत्रेमां पटहोद्घोषणां शुश्राव। अद्य राजतनयं हत्वा केनाप्याभरणं गृहीतमस्ति, ततो यस्तं जानाति स नृपाग्रे कथयतु, यतः स नृपतेर्द्रोहकारी वध्य एव। स स्वर्णकार इत्याकर्ण्य हृदये चकितोऽभवत्। ततोऽसावित्यचिन्तयन्नूनमेतदाभरणं मयैव घटितमस्ति, अनेन विप्रेण चाभरणलोभेन स राजपुत्रो हतो भविष्यति। किं चासौ विप्रो न मे गोत्रीयः स्वजनो वा, ततोऽहमस्य कृते कथमनर्थे पतामि? इति ध्यात्वा पटहं स्पृष्ट्वा नृपसमीपे च गत्वा तद्विभूषणं दत्त्वा तदपहर्तारं तं ब्राह्मणं निवेदयामास।

तदा क्रुद्धो राजा स्वसेवकान् प्रेषयित्वा गाढबन्धनैश्च बद्ध्वा तं विप्रं समानाय्य पौराणिकानाहूय पृष्टवान् भो पौराणिका! अस्य विप्रस्य को दण्डो युज्यते? तदा तैरुक्तं हे देव! वेदाङ्गपारगोऽपि यो द्विजो मनुष्यघातं करोति स नृपेण वध्य एव, एवं च कुर्वतो नृपस्य पातकं नास्ति। तत् श्रुत्वा नृपेणादिष्टा राजपुरुषास्तं विप्रं रासभे समारोप्य

रक्तचन्दनेन च तस्य देहं विलिप्य वध्यस्थाने निन्युः। एवं वध्यस्थाने नीयमानः स पवित्रात्मा द्विजो मनसीति चिन्तयामास, अहो मम कर्मदोषेण कीदृशीयमवस्था संजाता? अहो तस्य दुष्टसुवर्णकारस्य कृतघ्नता! व्याघ्रवानरयोश्च कीदृशी कृतज्ञता! इति ध्यायन् पश्चात्ताप-परोऽसाविति श्लोकयुग्मं मुहुर्मुहुः पपाठ–

व्याघ्रवानरसर्पाणां, यन्मया न कृतं वचः ।
तेनाहं दुर्विनीतेन, कलादेन विनाशितः ।।२९।।

वैश्या घृतकृतश्चौरा नीरमार्जारनापिताः ।
जातवेदाः कलादाश्च, न विश्वास्या इमे क्वचित् ।।३०।।

अथ तत्र भ्रमता तेनैव भुजङ्गेन तस्य विप्रस्य मुखादिति पठ्यमानं श्लोकद्वयं श्रुत्वा तं च समुपलक्ष्येति चिन्तितमहोऽनेन गुणवता विप्रेण पुराहं कूपात्समुद्धृतोऽस्मि, हहा अद्य स एव महानुभावो विप्रः सङ्कटे पतितोऽस्ति! ततो यद्यहं कमप्युपायं कृत्वास्य सत्पुरुषस्य चेदुपकाराय भवामि तदैव ममाप्यनृणत्वं संपद्येत। इति चिन्तयन् स सर्पो द्रुतं राजवाटिकायां गत्वा तत्र सखीभिः सह क्रीडन्तीं राजकुमारीं दष्टवान्। तदा सा राजसुता विह्वलीभूता मूर्छिता सती भूमौ पपात। सखीभिः प्रोक्तमेतं वृत्तान्तं श्रुत्वा राजा महाशोकाकुली-भूयावदत्, अहोऽहं यावत्पुत्रमरण-रूपस्यैकस्यापि दुःखस्य पारं न प्राप्तस्तावदिदं द्वितीयमपि दुःखं ममोपरि समापतितम्!।

अथ किं करोमीति विचिन्त्य तेन तत्क्षणमेवानेके मन्त्रतन्त्रनिपुणाः समाहूताः, ते सर्वेऽपि तस्या राजसुताया उपचारान् कर्तुं लग्नाः, परं तस्या गुणो नाभवत्। इत एको मन्त्रवादी नृपाग्रे प्रोवाच, हे राजन्! मम निर्मलं ज्ञानमस्ति तेनाहं जानामि यदयं हन्यमानो द्विजो निर्दोषोऽस्ति, तस्य सम्बन्धं शृणु? पूर्वमनेन दयावता विप्रेण कान्तारमध्ये

कूपात्सर्पव्याघ्रवानराः समुद्धृताः, तथा चतुर्थः स्वर्णकारोऽपि समुद्धृतः, तदा तैरस्य विप्रस्य प्रोक्तं, त्वयास्माकं महानुपकारः कृतोऽस्ति।

अथ त्वमपि कदापि मथुरायां समागच्छेरिति निगद्य ते स्वस्थानं गताः। ततोऽसावपि परिभ्रमन्नत्रागतः, तदा वानरेण सत्फलैरसौ सत्कृतः, व्याघ्रेणाप्यस्य पुरुषस्य सत्काराय त्वत्पुत्रं विनाश्य तदीयाभरणं तस्मै दत्तम्। इतश्चासौ मुग्धचित्तो विप्रः स्वर्णकारस्य मिलनाय समागतः, व्याघ्रदत्तमाभरणं च तस्य कलादस्य दर्शितं, तदा स्वर्णकारेण तदाभरणमुपलक्ष्य कृतघ्नतया तव ज्ञापितं, त्वया च स वध्यस्थाने प्रेषितः, इतो दैवयोगेन मार्गे तेनैव सर्पेणासौ दृष्टः समुपलक्षितश्च। तदा तेन फणिनाप्यस्योपकारं स्मरता तस्य विमोचनाय लतान्तरे समागत्य त्वत्पुत्री दष्टा, ततो हे नाथ! यद्यसौ विप्रो मुच्यते तदा निश्चयेनेयं त्वत्पुत्री जीविष्यति। तत् श्रुत्वा नृपेणोक्तं तर्हि तदर्थे किमपि प्रत्ययं दर्शय? तदा स मान्त्रिकस्तं सर्पं राजपुत्रीशरीरेऽवतारयामास। तदा सापि मन्त्रवादिना प्रोक्तं तत्सर्वं यथास्थितं कथयामास। तत् श्रुत्वा जातप्रत्ययो राजा यावत्तं द्विजं मुमोच तावत्सा राजकन्यापि निर्विषीभूय समुत्तस्थौ।

अथ तेन मन्त्रवादिना तं द्विजं प्रत्युक्तं, भो विप्र! अनेन फणिना तव जीवितं दत्तमस्ति, विप्रः प्राह अहो क्रूरैः प्राणिभिरपि कृतज्ञत्वं समाश्रितं, सुवर्णकारेण च कृतघ्नत्वं स्वीकृतम्। ततो राज्ञा पृष्टः स विप्रः स्वकीयां समग्रां कथां कथयामास। तत् श्रुत्वा सन्तुष्टेन नृपेण स विप्रः सत्कारपूर्वकं स्वमन्त्रिस्थाने स्थापितः, स सुवर्णकारश्च स्वदेशान्निष्कासितः। स विप्रोऽपि सर्वदा नागपूजां व्यधात्, ततश्च नागपञ्चमीपर्व प्रवर्तितम्।

ततो भो वानरि! यथा तेन विप्रेण स्वर्णकाराद्विपदः संप्राप्ताः, तथा त्वमप्यस्माद्भिल्लाद् दुःखं प्राप्स्यसि, अतस्तस्य विश्वासं मा कुर्याः,

एनं मे भक्ष्यं त्वमधः पातय, एवं व्याघ्रेणोक्तापि सा सुशीला वानरी तं न मुमोच। तदा स व्याघ्रस्तत्रैवोपविश्येति व्यचिन्तयदहोऽस्या वानर्याः कीदृशं निश्चलत्वमस्ति, ततः क्षणाज्जागरितस्य तस्य भिल्लस्योत्सङ्गे मस्तकं धृत्वा सा वानरी निद्रां प्राप्ता। तदा स व्याघ्रस्तं भिल्लं प्रत्याह भो भिल्ल! त्वमेतस्या वानर्या विश्वासं मा कुरु, चेत्त्वं स्वहितमिच्छसि तदा सप्तदिनक्षुधितस्य ममैनां वानरीं समर्पय, त्वं च सुखेन स्वस्थानं जीवन् गच्छ, अत्रार्थे नृपप्राणहर्तुरेकस्य वानरस्य कथां त्वं शृणु:-

(२५) नृपप्राणहरवानरस्य कथा

नागपुरे पावकनामा महर्द्धिको नृप आसीत्, एकदा च स विपरीतशिक्षिततुरङ्गमेणापहृतो घोरेऽरण्ये पतितः। इतस्तत्र क्षुत्तृषार्त्तस्यैकाकिनः परिभ्रमतस्तस्य नृपस्य कोऽपि वानरो मिलितः, तेन वानरेण च रम्याणि स्वादूनि फलानि समानीय तस्मै नृपाय दत्तानि, ततस्तेन निर्मलजलपरिपूर्णं महत्सरस्तस्य भूपस्य दर्शितम्। तदा स राजा फलान्यास्वाद्य पानीयं च पीत्वा यावत्सुखेन वृक्षच्छायायां समुपविष्टस्तावत्सर्वमपि पृष्ठस्थितं तस्य सैन्यं तत्र समागतम्। ततो राजा सैन्यसहितः स्वपुरं प्रति यदा चलितस्तदा स तं वानरमपि सार्धं समानयत्। तत्र स तं वानरं सर्वदा मिष्टान्नं भोजयति, चूतकदलीप्रमुखफलानि चार्पयति, ततो राजा तदीयोपकारं स्मरन् वस्त्राभूषणादिभिस्तमलङ्कृत्य तं स्वाङ्गरक्षकं व्यधात्।

अथैकदा वसन्तसमये स भूपतिर्वनमध्ये गत्वान्दोलन-जलकेलिपुष्पावचयादि कृत्वा परिश्रान्तः सन् वृक्षच्छायायां सुप्तः, वानरश्च स हस्ते खड्गं धृत्वा तस्याङ्गरक्षकत्वेन स्थितः। इतो राज्ञः शरीरोपर्येको भ्रमरः समुपविष्टः, तदा स्वामिभक्तिं दधता तेन वानरेण तस्य भ्रमरस्योपरि खड्गप्रहारो दत्तः, तेन स राजापि मृतः।

अतः कारणाद्भो निषाद! त्वमप्यस्या वानर्या विश्वासं मा कुरु? तत् श्रुत्वा तेन दुष्टेन निषादेन सा वानरी द्रुतं व्याघ्रपार्श्वेऽधः पातिता। तदा स व्याघ्रस्तां वानरीं प्रत्युवाच, हे भद्रे! त्वयाथ स्वचित्ते दुःखं न धार्यं, यतो यादृशः पुमान् सेव्यते तादृशमेव फलं प्राप्यते। अथ तत्कालोत्पन्नबुद्ध्या सा वानरी शीघ्रं तं व्याघ्रं प्रति प्राह, भो व्याघ्र! त्वयाथाहं न रक्षणीया, केवलं भक्षणीयैव, परं शृणु? वानराणां प्राणाः पुच्छेषु वसन्ति, तेन त्वया पूर्वं मम पुच्छमेव ग्राह्यं, तत् श्रुत्वा प्रमुदितो व्याघ्रो यावत्तां मुक्त्वा तस्याः पुच्छं गृह्णाति तावत्सा द्रुतमुत्प्लुत्यान्यं वृक्षं समारूढा।

अथ स व्याघ्रोऽपि विलक्षीभूय वनान्तर्गतः। अथ सा वानरी तस्य भिल्लस्योपरि मनागपि मात्सर्यमचिन्तयन्ती प्राह, भो भ्रातरथ स व्याघ्रो गतः, तेन च त्वं वृक्षात्समुत्तर? ततो वृक्षादुत्तीर्णोऽसौ भिल्लो वानर्या लताश्रये स्वस्थाने नीतः, तत्र सा वानरी तं स्वापत्यानां समीपे मुक्त्वा तदातिथ्यकृते फलाद्यानयनाय स्वयं वनमध्ये गता, तावता क्षुधातुरेण तेन दुरात्मना निषादेन तस्या अपत्यानि भक्षितानि, ततश्च स निश्चिन्तः सन् सुप्तः। इतश्च स्वादिष्टफलान्यादाय तत्रायाता सा वानरी तं सुप्तं ददर्श, परं तया स्वापत्यानि तत्र न दृष्टानि।

अथ सा तं समुत्थाय फलानि दत्त्वा स्वापत्यविलोकनाय तेन भिल्लेन सह वनमध्ये इतस्ततो बभ्राम। तदा तेन दुष्टेन भिल्लेन स्वहृदि चिन्तितं यदद्य तु मया मांसादि किञ्चिन्न प्राप्तं, एवं च निष्फलोऽहं कथं गृहे गच्छामीति ध्यात्वा तेन दुष्टेन सैव सुशीला वानरी यष्ट्यादिना व्यापादिता। ततोऽसौ तां गृहीत्वा यावद्गृहमभिगच्छति तावन्मार्गे स एव व्याघ्रस्तस्य मिलितः, व्याघ्रेणोक्तं रे दुष्ट! त्वयेदं किं कृतं? यया वानर्या त्वं भ्रातृवत्पालितस्तस्या एव त्वया प्राणा हृताः! त्वदीयमुख-प्रेक्षणतोऽपि पापं स्यात्, तव हत्यातोऽपि ममापि त्वत्पातकं लगेत्तेन

त्वामहमपि जीवन्मुञ्चामीत्युक्त्वा स व्याघ्रो गतः।

अथ स भिल्लो यदा गृहे समागतस्तदा तस्य तद्दुश्चेष्टितं ज्ञात्वेति राज्ञा चिन्तितमहोऽहं वानराणां रक्षणं करोमि, अनेन दुरात्मना च शिशुसमन्विता सा सुशीला वानरी हता! अतोऽसावाज्ञाभङ्गकारी वध्य एव। यतः-

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां, गुरूणां मानमर्दनम् ।
पृथक्शय्या च नारीणां, अशस्त्रवध उच्यते ॥३१॥

इति ध्यात्वा स निषादो गाढबन्धनैर्बद्ध्वा यष्टिमुष्टिप्रहा-रैस्ताड्यमानो राज्ञा यावद्वधस्थाने समानीतस्तावता तेनैव व्याघ्रेण तत्र समागत्य राज्ञे प्रोक्तं, हे राजन्नस्य दुष्टस्य मारणं न युक्तं, यतोऽस्य विनाशं कुर्वतस्तवापि तत्पातकं लगिष्यति, पापा हि जन्तवः स्वयमेव निजकर्मदोषेण मरणं प्राप्नुवन्ति। तदा विस्मितो राजा तं व्याघ्रं प्रति प्राह, भो व्याघ्र! तिर्यग्योनिसमुद्भूतस्यापि तव मनुष्यभाषा कथमस्ति? ईदृशं विवेकचातुर्यं च तव कुतः संप्राप्तं? तदा व्याघ्रो जगाद, भो राजन्! अस्मिन् वने विशिष्टज्ञानयुताः सूरयः सन्ति, तेषां पार्श्वे गत्वा त्वं प्रश्नं विधेहि, यथा ते सर्वं वृत्तान्तं तुभ्यं कथयिष्य-न्तीत्युक्त्वा स व्याघ्रो गतः।

अथ राज्ञा स निषादः स्वदेशान्निष्कासितः, ततो राजा सूरिसमीपे गत्वा भक्त्या च वन्दित्वा तस्यान्तिके समुपविश्याञ्जलिं कृत्वेति पप्रच्छ, हे प्रभो! निर्मलज्ञानचक्षुषा त्वं सर्वं जानासि, तेन मयि कृपां विधाय कथय? सा वानरी मृत्वा कुत्र गता? सूरिरुवाच हे नृप! सा वानरी शुभध्यानवशान्मृत्वा देवलोके गता। इत्याकणर्य भूयो भूपोऽवादीत् हे भगवन्! स पापकर्मकर्ता दुष्टो निषादो मृत्वा क्व यास्यति? सूरिणोक्तं हे राजन्! तस्य पापिनो नरकं विनान्यत्स्थानं

नास्ति। उक्तं च–

जीवहिंसामृषावाद-स्तैन्यान्यस्त्रीनिषेवनैः ।
परिग्रहकषायैश्च, विषयैर्विवशीकृतः ।।३२।।

कृतघ्नो निर्दयः पापी, परद्रोहविधायकः ।
रौद्रध्यानपरः क्रूरो, नरो हि नरकं व्रजेत् ।।३३।।

पुनर्नृपोऽवदत् हे भगवन्! स व्याघ्रो मनुष्यभाषया कथं जजल्प? सूरिरुवाच हे राजन्! तत्कारणमपि त्वं शृणु? सौधर्मदेवलोके शक्रसामानिक एकः सुरोऽस्ति, तस्य प्राणप्रिया देवी च्युत्वा क्वापि मनुष्यत्वे समुत्पन्ना। तदा तस्या देवाङ्गनाया रक्षकाः सुरास्तस्या वल्लभं तं सुरमिति पृच्छन्ति स्म, हे स्वामिन्नथास्मिन् विमाने कापि देवी समागमिष्यति न वा? तदा तेनोक्तं वनमध्ये यैका वानरी विद्यते सा मृत्वा नूनमिह देवीत्वेनोत्पत्स्यते। तत् श्रुत्वा तेषां मध्यादेको देवो व्याघ्ररूपं विधाय तस्याः परीक्षार्थमिह समागतः, एवं च देवशक्त्या स व्याघ्रो मनुष्यभाषया जजल्प एवं गुरोर्वचांसि श्रुत्वा संजातवैराग्यो राजा स्वपुत्रं राज्ये विन्यस्य तेषामेव गुरूणां समीपे संयमं जग्राह। निरतिचारं च संयममाराध्य तस्मिन्नेव स्वर्गे सोऽपि देवत्वं संप्राप्तः।

इति कथां कथयित्वा कुञ्चिकश्रेष्ठिना मुनिं प्रति प्रोक्तं हे भगवन्! युष्माभिरपि निषादतुल्यं कृतघ्नत्वमेव कृतम्।

मुनिनोक्तं भो श्रेष्ठिन्! त्वयैतद्विरुद्धं वाक्यं कथितं, कूटकलङ्केन सतां मनसि हि महान् संतापो जायते, यथा देवीनाम्न्यास्तस्करिण्याः संतापो जातः। तथाहि–

(२६) अविमृश्यकारिदेव्याः कथा

मगधदेशे क्वचिद् ग्रामे वीराभिधश्चौरो वसति स्म, तस्य गृहे

देवीनाम्नी भार्यासीत्। स चौरश्च प्रत्यहं चौर्यं करोति। अथैकदा तस्य गृहभित्तिमध्यस्थबिले एका नकुली प्रसूता। तस्याः पुत्रः स नकुलस्तु तया देव्या स्वपुत्रत्वेनान्नपानादिभिः पोषितः स्वगृहमध्ये च रक्षितः। तत एकदा तया देव्याप्येकः पुत्रो जनितः, एवं तौ नकुलदेवीपुत्रौ च परस्परं संगतावेव नित्यं तिष्ठतः। अथैकदा सा देवी तं स्वपुत्रं मञ्चिकायां प्रसुप्तं नकुलं च तत्पार्श्वे मुक्त्वा स्वयं पार्श्वस्थगृहे धान्यखण्डनाय गता।

इतो देवीपुत्रस्य मञ्चिकापार्श्वे बिलमध्यादेकः सर्पो निर्गतः, तं दृष्ट्वा नकुलेन द्रुतं स खण्डशः कृतः। ततो नकुलेन चिन्तितमस्य वृत्तान्तस्य प्रथममेवाहं मम मातुर्वर्धापनिकां यच्छामीति ध्यात्वा स यत्र सा धान्यं खण्डयति तत्र गतः, तदा रुधिरविलिप्ताङ्गं तं दृष्ट्वा देव्या चिन्तितमहोऽनेन दुष्टेन मे पुत्रो व्यापादित इति ध्यात्वा तं नकुलं मुशलेनैव ताडयित्वा सा मारयामास। ततः सा स्वयं गृहे समायाता पुत्रं जीवन्तं, पार्श्वे च मृतं सर्पं विलोक्य यावज्जीवं महासंतापं प्राप्ता।

एवं भो श्रेष्ठिंस्त्वमप्यविमृश्यकारणतः संतापं प्राप्स्यसि। कुञ्चिकेनोक्तं हे भगवन्! यूयं तु पामरसदृशा जाताः।

(२७) हस्ति-पामरयोः कथा

तथाहि नागपत्रकेतकीतमालचम्पकाशोकजातिफललवङ्ग-कक्कोलखजूरबीजपूरादिवृक्षावलिमनोहरे क्वापि वने मदोन्मत्तः श्वेतवर्णोपेतः कश्चिदेको हस्ती सप्तशतकरिणीभिः सह क्रीडां कुर्वन्नासीत्। अथैकदा वने भ्रमतस्तस्य हस्तिनश्च चरणे एकः कीलको भग्नः, तेन स महाव्यथामनुभवन् भूमौ पतितः, एवं क्षुधार्त्तस्य तस्य सप्त वासरा गताः, इत एकया करिण्या क्वचित्क्षेत्रे एकः पामरः सुप्तो दृष्टः, तया च स शुण्डाग्रेणोत्पाट्य गजसमीपे समानीतः, तदा तेन पामरेण

तस्य हस्तिनः शरीरं विलोकितं, तस्य पादे च कीलको दृष्टो निष्कासितश्च।

तदा हृष्टेन तेन गजेन तस्मै मुक्ताफलगजदशनसमूहश्च दत्तः, पामरोऽपि तत्सर्वं समादाय गृहे समागतः। तदा लोकैस्तस्य पृष्टं भो पामर! त्वयायं मुक्ताफलादिसमूहः कुतः प्राप्तः? तदा तेन पामरेणापि सकला गजवार्ता निवेदिता। क्रमेण नृपस्तां वार्तां श्रुत्वा गजग्रहणाय सैन्यसहितो वने गतः, कैतवेन च स तं गजसमूहं गर्तायां पातयित्वा विविधबन्धनैश्च बद्ध्वा नगरीमध्ये समानीयालानस्तम्भेषु बबन्ध।

एवं भो भगवन्! यूयमपि पामरसदृशा जाताः। मुनिनोक्तं भो श्रेष्ठिन्नस्मिन् संसारे त्वत्तुल्यः कोऽपि मूर्खो नास्ति, त्वत्तस्तु पशवोऽपि विचारवन्तो भवन्ति। तथाहि-

(२८) सिंही-मृगी-शृगालीनां कथा

वैताढ्यपर्वते एकस्यां गुहायां काचिदेका सिंही न्यवसत्। तस्या मृगीशृगाल्यौ सख्यावास्ताम्। तासां मध्ये परस्परं परमं सौहार्दमासीत्। अन्यदा तया सिंह्यैकः सुतः प्रसूतः, तदा क्षुधार्त्ता सा मृगीशृगाल्यौ तस्य पार्श्वे मुक्त्वा स्वयं भक्षणार्थं वनमध्ये गता। इतोऽत्र तस्या मृग्यास्तु निद्रा समागता। तदा तया शृगाल्या चिन्तितं, ममास्यार्भकस्य मनोहरं भक्ष्यं भविष्यतीति विचार्य तया स सिंह्यर्भको भक्षितः, सुप्ताया मृग्या मुखं च रुधिरेण विलिप्तम्। ततः सा शृगाली स्वस्थाने गता। एतावता सिंह्या तत्र समागत्येतस्ततो विलोकितं परं स्वार्भको न दृष्टः, इतस्तत्र सा शृगाल्यागता। तदा सिंह्या तस्यै पृष्टं, भो सखि! स मम बालः कथं न दृश्यते? तयोक्तमहं तु कार्यप्रसङ्गेन मम गृहे गतासम्, तेनाहं किञ्चिन्न वेद्मि, परं पश्यास्या मृग्या मुखं रुधिरलिप्तमस्ति, तेन स बालोऽनयैव व्यापादितो ज्ञायते।

अथ सिंह्या मृगीमुत्थाप्य पृष्टं, भो सखि! मम बालकः क्व गतः? तयोक्तमहं किञ्चिदपि न जानामि, तथैवात्रावाभ्यां विनान्यः कोऽपि समागतो न दृश्यते। शृगाल्योक्तं भो मृगि! तव मुखं रुधिराविलं दृश्यते, तेन सोऽर्भकस्त्वयैव भक्षितोऽस्ति। अथ सिंही व्यचिन्तयत् नूनं मुखं तु रुधिराविलं दृश्यते, परमियं तु सर्वदा तृणभक्षणमेव करोति, शृगाली तु मांसभक्षिणी प्रसिद्धास्तीति सम्यग् धिया विमृश्य तयोक्तं भो सख्यौ! युवां द्वावपि वमनं कुरुत, यथाहं सत्यासत्यं मन्ये। तदा मृग्या द्रुतं वमनं कृतं, तन्मध्याच्च शुष्कतृणादि विनिर्गतम्। ततः शृगाल्यपि तया हठेन वमनं कारिता, तन्मध्याच्चास्थिचर्ममांस-खण्डानि निर्गतानि। तदा सिंह्यापि सा शृगाली तूर्णं व्यापादिता, मृगी च सन्मानिता।

एवं भो कुञ्चिकश्रेष्ठिन्! यथा तेन पशुनापि विचारः कृतस्तथा त्वयापि कर्तुं युज्यते।

कुञ्चिकेनोक्तं हे भगवन्! यूयं तु मृगारितुल्याः कृतघ्ना जाताः, मुनिनोक्तं कोऽसौ मृगारिः?

(२१) निशाचरहन्तृमृगारेः कथा

श्रेष्ठी प्राह हिमवन्तपर्वतसमीपे एकस्तापसाश्रम आसीत्, तस्य समीपे गुहायामेको निशाचरो वसति स्म, स च तापसानां सङ्गेन दयापरो भूत्वा तेषां भक्तिं कुर्वन् निजसमयं गमयति स्म। अन्यदा शीतकाले कश्चिदेकः सिंहः शीतार्तस्तस्य गुहायां प्रविश्य सुप्तः, इतः समागतो निशाचरस्तं शीतार्तं तत्र प्रसुप्तं विलोक्य दयया स्वयं शीतं सहन् बहिरेव सुप्तः। तदा गतनिद्रेण सिंहेन समुत्थाय स एव निशाचरो हतो भक्षितश्च।

एवं हे भगवन्! भवद्भिरपि तथैव कृतम्। मुनिनोक्तं भो श्रेष्ठिन्नहमपि

कठाभिधवणिग्वदात्मनः कलङ्कमपाकरिष्ये। श्रेष्ठिनोक्तं कोऽसौ कठाभिधो वणिक्? मुनिराह-

(३०) कठश्रेष्ठि-सागरदत्तनृपयोः कथा तदन्तर्गत-नन्दावर्त-देव-कथा

राजगृहाभिधे नगरे समस्तराजमण्डलीमण्डितसिंहासनः सकलकलाप्रज्ञः समस्तराजनीतिविदुरः श्रेणिकाभिधो राजा राज्यं करोति स्म। तस्य समस्तगुणसम्पन्ना जिनधर्मप्रभावका महारूपवती चेल्लणाभिधा पट्टराज्ञ्यासीत्। तत्र नगरे महादयार्द्रचेता द्वादशव्रतधरः श्राद्धगुणसंपन्नः कठाभिधः श्रेष्ठी बभूव। तस्य रूपसौभाग्यसौन्दर्ययुक्ता भद्राभिधा प्रियासीत्। अन्यदा तेन श्रेष्ठिना स्वावासकरणाय विज्ञानिन आकारिताः, तदा ते सूत्रधारा अपि वास्तुशास्त्रोक्तविधिना तस्यावासं कुर्वन्ति स्म। उक्तं च –

वैशाखे श्रावणे मार्गे[1], फाल्गुने क्रियते गृहं ।
शेषमासे पुनर्नैव, इति वाराहसंमतम् ।।३४।।

पूर्वस्यां श्रीगृहं कार्यमाग्नेय्यां तु महानसम् ।
शयनं दक्षिणस्यां तु, नैरृत्यामायुधादिकम् ।।३५।।

भुक्तिक्रिया पश्चिमस्यां, वायव्यां धान्यसङ्ग्रहः ।
उत्तरस्यां जलस्थानमीशान्यां देवतागृहम् ।।३६।।

ततः षण्मासैस्तैः स आवासो निष्पादितः। तदा श्रेष्ठिनापि ते सर्वे सूत्रधारा धनादि दत्त्वा संतोष्य च विसर्जिताः। ततो नैमित्तिकैः समादिष्टे शुभे मुहूर्ते यावत्स श्रेष्ठी तस्मिन् प्रासादे प्रवेशं करोति तावदकस्मात्सभामण्डपस्य नैरृत्यकोणे तस्य क्षुतं जातम् । तदा क्षुतविषये श्रेष्ठिना पृष्टाः शास्त्रज्ञाः प्राहुः –

1. मृगशिर्षमासे

ठाणं ठिअस्स पढमं–तिअकज्जंमि किंपि काउ कामस्स ।
होइ सुहा असुहावि य, छोआ दिसिभूमिभागेणं ।।३७।।

पुव्वदिसि धुव लाहो, जलणे हाणि जमालए मरणं ।
नेरईए उव्वेउं, पच्छिमए परमसंपत्ती ।।३८।।

वायव्वे सुहवत्ता, धणलाहो होइ उत्तरे पासे ।
ईसाणे सिरिविजउं, रज्जं पुण मज्झठाणंमि ।।३९।।

एह पट्ठिअस्स समुहा, छोआ मरणं नरस्स सा होई ।
वज्जे य दाहिणंपि य, वामापि ठिइसिद्धिकरा ।।४०।।

तेन भो श्रेष्ठिन्नेतद् गृहवासे तव महानुद्वेगो भविष्यति। तत् श्रुत्वा श्रेष्ठी तन्मुहूर्त्तं त्यक्त्वान्यस्मिन् मुहूर्ते तत्र प्रासादे प्रविष्टः। तदैकः श्वा मुखे भक्ष्यं गृहीत्वा दक्षिणदिशः समागत्य तस्य वामपार्श्वे स्थितः, तदा श्रेष्ठिना तद्विषये पृष्टः शाकुनिकः प्राह, भो श्रेष्ठिन्ननेन शकुनेन तव सर्वा सिद्धिर्भविष्यति। यतः–

गच्छतां च यदा श्वा, स्या–द्दक्षिणाद्वामवर्तकः ।
सर्वसिद्धिस्तदा नूनं, भवति कामितप्रदा ।।४१।।

गच्छतां च यदा श्वानो, दृश्यतेऽमेध्यभक्षकः ।
मिष्टान्नाशनपानादि, प्राप्नोति पुरुषो ध्रुवम् ।।४२।।

इतः स एव श्वा स्वकर्णं कण्डूयामास, तदा तेन शाकुनिकेनोक्तं, भो श्रेष्ठिन्! ते ह्यतीववर्यं भविष्यति। यत–

गच्छतां च यदा श्वानः, कर्णं कण्डूयते पुनः ।
द्रव्यलाभं विजानीयान्महत्त्वं च प्रजायते ।।४३।।

तत् श्रुत्वा श्रेष्ठी शकुनग्रन्थिं बबन्ध, ततोऽसौ परिवार–

युतस्तस्मिन् गृहे प्रवेशमकरोत्, सर्वस्वजनांश्च रम्यभोजनैर्भोजयामास। अथ कियद्दिनानन्तरं भद्रया रात्रौ स्वप्नमध्ये समुद्रान्तस्तरन्ती नौर्दृष्टा। ततस्तया तस्य स्वप्नस्य वृत्तान्तः स्वभर्तुरग्रे निवेदितः, तेनोक्तं हे प्रिये! तव कुलोद्योतकरः पुत्रो भविष्यति। ततस्तस्या अपि संपूर्णे काले शुभे लग्ने सर्वसुलक्षणोपेतः पुत्रो जातः, श्रेष्ठिना च महोत्सवपूर्वकं तस्य *सागरदत्त* इति नाम निर्मितम्। पञ्चधात्रीभिः पाल्यमानः क्रमेण सर्वावयवसंपूर्णो द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः स अष्टवार्षिको जातः।

उक्तं च– (कल्पसूत्रसुबोधिकायाम्)

इह भवति सप्तरक्तः, षडुन्नत पञ्चसूक्ष्मदीर्घश्च ।
त्रिविपुललघुगम्भीरो, द्वात्रिंशल्लक्षणः पुरुषः ।।४४।।

पाणिपादतले, नेत्रान्तभागाः, नखाः, तालु, जिह्वा, औष्ठौ चैते सप्त रक्ताः प्रशस्यन्ते। कक्षा, कुक्षिः, वक्षः, नासिका, स्कन्धौ, ललाटं चैते षडुन्नताः शोभन्ते। अङ्गुलीपर्वाणि, दन्ताः, केशाः, नखाः, त्वक् चैते पञ्चापि सूक्ष्माः प्रशस्याः। बाहू, नयनान्तरं, जानू, नासिका, भुजान्तरं चैतानि पञ्च दीर्घाणि प्रशस्यानि। ग्रीवा, चरणौ, जङ्घा चैतत् त्रयं लघु प्रशस्तम्। स्वरः, सत्त्वं, नाभिश्चैतत् त्रयं गम्भीरं प्रशस्तम्। हृदयं, शीर्ष, ललाटं चैतत् त्रयं विस्तीर्णं प्रशस्तं एवं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः स संजातः।

मुखं मुख्यं शरीरे हि, सर्वेषु मुखमुत्तमम् ।
तत्रापि नासिका श्रेष्ठा, तत्रापि चक्षुषी वरे ।।४५।।

वर्णाद्वरतरः स्नेहः, स्नेहाद्वरतरः स्वरः ।
स्वराद्वरतरं सत्त्वं, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ।।४६।।

न श्रीस्त्यजति रक्ताक्षं, नार्थः कनकपिङ्गलम् ।
दीर्घबाहुं तथैश्वर्यं, न मांसोपचितं सुखम् ।।४७।।

उरोविशालो धनधान्यभोगी, शिरोविशालो नृपपुङ्गवश्च ।
कटिविशालो बहुपुत्रदारो, विशालपादः सततं सुखी स्यात् ।।४८।।

चक्षुःस्नेहेन सौभाग्यं, दन्तस्नेहेन भोजनम् ।।
त्वचः स्नेहेन शय्यावान्, पादस्नेहेन वाहनम् ।।४९।। *तथा च*

सेतुबन्धो वज्रबन्ध, उदर्ध्व-रेखाङ्कुशा यवा ।।
शङ्खशुक्ती च तद्रेखा, यूपस्तूपौ च वापिका ।।५०।।

छत्रं ध्वजपताके च, तोरणं सिंहवारिधी ।
काकपदं गृहादर्श-मत्स्यमकरकूर्मकाः ।।५१।।

पद्मचामरश्रीवत्सा, रथकुम्भकमण्डलाः ।
मालास्वस्तिकवृक्षाश्च, ज्ञेयान्यमूनि रेखया ।।५२।।

औदार्यं धैर्यगाम्भीर्य-विवेकविनयादयः ।
सर्वे गुणा ददृशिरे, तस्मिन् पुत्रे हि श्रेष्ठिनः ।।५३।।

ततोऽसौ श्रेष्ठी तं स्वपुत्रं शुभे मुहूर्ते पठनाय लेखशालायां मुमोच। यतः—

शुभवेलाकृतं कार्यं, वृद्धिलाभाय जायते ।
सुक्षणे स्थापितो जातो, गौतमः सर्वलब्धिभृत् ।।५४।।

तस्मिन्नवसरे तेन सर्वे स्वजना भोजनाय निमन्त्रिता। तस्मिन् समये तत्राहारार्थं द्वौ मुनिवरौ समागतौ। इतस्तत्राङ्गणस्थवृक्षोपरिस्थ एको कुर्कुटो जगाद, भो श्रेष्ठिन्नहं तव पुत्रस्य राज्यदातास्मि, अतो ममापि भोजनं देहि? इति तस्य वचनं श्रुत्वैकेन मुनिना स्वशिरो धूनितं, तदा द्वितीयेन मुनिना पृष्टं भो मुनेऽयं ताम्रचूडः किं वक्ति? तेनोक्तं भो मुनेऽस्मात्ताम्रचूडादयं श्रेष्ठिनो बालो राज्यं प्राप्स्यति।

अथ तत्र स्थितेन श्रेष्ठिना तत्सर्वं श्रुतम्। ततः श्रेष्ठिना प्रतिलाभितं तत्साधुयुगलं स्वस्थाने जगाम।

अथ श्रेष्ठी तं ताम्रचूडं स्वसदने यत्नपूर्वकं रक्षयामास। पुत्रोऽपि पाठशालायां सर्वदा शास्त्राभ्यासं करोति स्म। अथान्यदा स श्रेष्ठी राज्ञेत्यादिष्टो भो श्रेष्ठिन्! त्वं यवनद्वीपे गत्वा महामूल्यान्याभराणि मत्कृते समानय, श्रेष्ठिनोक्तं स्वामिन्नानयिष्यामीत्युक्त्वा स गृहे समायातः। ततोऽसौ स्वभार्यया सहालोचयामास, हे प्रियेऽहं नृपादेशेन यवनद्वीपे गमिष्यामि। तत् श्रुत्वा तयोक्तं हे प्राणनाथ! एतदश्राव्यं वाक्यं त्वया कथं मे श्रावितम्? त्वया विना निराधाराहं कथमत्र स्थास्यामि? यतः—

नारीणां प्रिय आधारः, स्वपुत्रस्तु द्वितीयकः ।
सहोदरस्तृतीयः स्यात्, स्त्रीणां हि हर्षकारणम् ॥५५॥

अतो हे नाथ! विरहानलदग्धा निराधाराहमत्र कथं भविष्यामि? त्वां विना मे प्राणा अपि परलोकं यास्यन्ति।

त्वां विना तु गृहं शून्यं, यौवनं हृदयं च मे ।
शून्यं शुभमते स्वामिन्! कथ्यते किं मुहुर्मुहुः ॥५६॥

सा जिह्वा शतधा भूता, दिशो दिशि गता वरम् ।
यदा प्राणेश 'गच्छ' त्वमित्यक्षरमथोच्यते ॥५७॥

तत् श्रुत्वा श्रेष्ठिनोक्तं भो प्राणवल्लभे! एतत्कार्यं तु राज्ञः सत्कं विद्यते, *राजा हि जगति दुस्तरः कथ्यते,* तेन च तस्येदं कार्यं कृत्वाहं शीघ्रमागमिष्यामि। तयोक्तं हे प्रभो! भवता यदि नूनं परदेशे गम्यते, तदा ममात्र किञ्चिदालम्बनं देहि।

अथ हट्टस्थितस्य श्रेष्ठिनः पार्श्वे हस्तस्थशुकयुग्मपञ्जरः कश्चिदेको

द्विजः समायातः। श्रेष्ठिनापि तत्पञ्जरं हस्ते गृहीतं, तदा शुकद्वन्द्वेन च श्रेष्ठिने शुभाशीर्वादो दत्तः। तदा संतुष्टः श्रेष्ठी तस्मै द्विजाय दीनारपञ्चशतं दत्त्वा शुकयुतं तत्पञ्जरं जग्राह। ततः श्रेष्ठी शुकयुग्मं पप्रच्छ युवां मनुष्यभाषया कथं जल्पथः? शुक उवाच भो श्रेष्ठिन्! अहं देवयोनिसमुद्भूतोऽस्मि, मानवो नास्मि, मम वृत्तान्तं शृणु?

अहं धरणेन्द्रसभास्थितस्तस्य नन्दावर्ताभिधः किङ्करोऽस्मि। एकदा धरणेन्द्रेण ममेत्यादिष्टं भो नन्दावर्त! त्वमितो मनुष्यलोके गच्छ? वाणारस्यां श्रीपार्श्वनाथस्य *जीवितस्वामिनो मूर्तिर्वनमध्ये प्रासादे स्थितास्ति,* तत्र गत्वा त्रिकालं तस्या मूर्तेः पूजा विधेया, आशातना च सर्वा निवार्या। तत् श्रुत्वा प्रमुदितोऽहमत्रागत्य प्रत्यहं तस्याः सेवां करोमि। अन्यदा कश्चिद्विद्यासिद्धः पुमानत्र वने समागतः, तस्य सिद्धस्यानेके राजपुत्रव्यवहारिसामन्ताद्याः परिचर्यामकुर्वन्।

एकदा केनचिद् गोपेन तस्याग्रे प्रोक्तं, हे स्वामिन्! प्रसादं विधाय ममापि किञ्चिद्देहि? सिद्धेनामर्षेणोक्तं 'रे *जा पर हुं फिट्*' इति श्रुत्वा गोपेन मनसि चिन्तितं नूनमनेन ममायं मन्त्रो दत्तः, इति ध्यात्वा स जिनायतने गत्वा 'रे जा पर हुं फिट्' इति दिनत्रयं यावज्जापमकुर्वत्। मया स नानाप्रकारैर्भाषितोऽपि न भीतः। तदा कौतुकचमत्कृतो-ऽधिष्ठायकदेवोऽहं प्रत्यक्षीभूयावदम्, भो गोप! तुष्टोऽहं वरं वृणु? गोपेनोक्तं मद्गृहस्थितं कोष्ठागारं रत्नभृतं कुरु, मयापि तथा कृतम्। ततोऽसौ गोपालो गृहे गत्वा रत्नभृतं कोष्ठागारं वीक्ष्य मुदितस्ततः कतिचिद्रत्नान्यादाय तस्य सिद्धपुरुषस्य पार्श्वे गत्वा प्राभृतं चकार। सिद्धेनोक्तं भो गोपाल! त्वयैतानि रत्नानि कुतः संप्राप्तानि? तेनोक्तं हे स्वामिन्! भवदुक्तमन्त्रजापतो मयैतानि प्राप्तानि। तदा तेन सिद्धपुरुषेण विचारितं मया त्वामर्षादुक्तं परमस्य विश्वासः फलितः।

अथ तदाहं मूर्त्तेरर्चाकरणं विनैव तस्य गोपस्य गृहे रत्नानि दातुं

गतोऽभूवम्, इतो मम स्वामी धरणेन्द्रस्तत्र जिनमन्दिरे समागतः, तदा जिनमूर्त्तिमपूजितां वीक्ष्यासौ क्रुद्धो मम शापं ददौ, भो निष्पुण्य! त्वमत्र वने शुकयुग्मीभूय तिष्ठ, तदा मया बहुधा विज्ञप्तोऽसौ कथयामास राजगृहे कठश्रेष्ठिपरिचर्यातस्तव शापो दूरीभविष्यति। अथाहं शुकयुगलीभूय वने वृक्षोपरि स्थित आसम्, इतोऽसौ निर्धनो द्विजो दारिद्र्यपराभूतस्तस्यैव तरोस्तले समागत्य महता शब्देन रुरोद। तदा मया तस्मै द्विजाय प्रोक्तं भो द्विज! त्वमावां समादाय राजगृहनगरे कठश्रेष्ठिसमीपे याहि। स चावां गृहीत्वा तुभ्यं दीनारपञ्चशतं दास्यति। एवं भो श्रेष्ठिन्! मम चरित्रं मया तवाग्रे प्रोक्तम्। अथ भो श्रेष्ठिन्नेतन्मम चरित्रं त्वया कस्याप्यग्रे न वाच्यं, यदि कथयिष्यसि तदा ते विघ्नं भविष्यति। श्रेष्ठ्यपि तत्प्रतिपद्य तत्कीरयुग्मं स्वादुफलादिभिः पोषयन् प्रयत्नेन पञ्जरस्थं पालयामास।

इतश्च तस्य श्रेष्ठिनो हट्टे कश्चिदेकस्तापसो भिक्षार्थमागतः, इतस्तस्य मस्तकोपरि श्रेष्ठिहट्टनिव्रादेकं तृणं पतितम्। तदा स तापसः स्वात्मोपरि कोपं वहन् लोकानां पुरः कथयामास, भो लोका! महाव्रतधारकेण मया कदापि कस्यापि तृणमात्रमदत्तं गृहीतं नास्ति, अद्य तु मम शिरस्येतत्तृणं पतितं, तेन दोषवतोऽस्य मे शिरसोऽहं छेदं करिष्यामीत्युक्त्वा तेन कोशात्खड्गो निष्कासितः। तदा लोकैर्महताग्रहेण स आत्मघाताद्रक्षितः। एवंविधं तस्य चेष्टितं दृष्ट्वा श्रेष्ठिना चिन्तितं नूनमयं महाधर्मिष्ठो वर्तते, तेनाहमेनं स्वगृहे स्थापयामीति ध्यात्वा तेन तापसाग्रे प्रोक्तं, भो महात्मन्! अहं विदेशे गमनोत्सुकोऽस्मि, तेन भोजनादि कुर्वता त्वया मद्गृहे एव स्थेयम्। तापसेनोक्तं भो श्रेष्ठिन्! मादृशानां तापसानां गृहस्थगृहे स्थातुं युक्तं न, तत् श्रुत्वा श्रेष्ठिना चिन्तितमहो एतादृशो निःस्पृही महात्मा मम कोऽपि न मिलिष्यतीति ध्यात्वा पुनः श्रेष्ठी जगाद, भो तापस! त्वत्तुल्योऽन्यो

निर्मलात्मा मम को मिलिष्यति? अतस्त्वया कृपां विधाय मद्गृहे एव स्थेयम्। एवं श्रेष्ठिनोऽतीवाग्रहतस्तापसेनापि तन्मानितम्।

अथ श्रेष्ठी तं तापसं स्वद्वाराग्रे संस्थाप्य स्वभार्यां प्रति कथयामास, हे प्रिये! त्वयाथैतत्कीरयुगलं, ताम्रचूडश्चैष प्रयत्नेन रक्षणीयः, इत्युक्त्वा श्रेष्ठी तु देशान्तरं प्रति चलितः, ततस्तया कुशिलिन्या श्रेष्ठिभार्यया शनैः शनैः स तापसो वशीकृतस्तया सह भोगविलासान् करोति, द्रव्यादि च स्वेच्छया विनाशयति। एकदा गृहमध्ये प्रविशन् स तापसः कीरयुग्मेन दृष्टः, तदा रोषातुरा कीरी तं तापसं प्रति प्राह, रे दुष्ट! पापिंस्त्वमस्मिन् गृहे कथं प्रविशसि? तदा शुकेन तां प्रति प्रोक्तं, हे प्रियेऽधुनावयोर्जल्पनावसरो नास्ति, तदा कीरी जगाद हे स्वामिन्! नूनं त्वं मूर्खशेखरोऽसि, एतद् गृहदारादि श्रेष्ठिना रक्षणायावयोर्दत्तमस्ति, एष दुष्टस्तापसः सर्वदा श्रेष्ठिन्या सह भोगविलासं करोति, द्रव्यं च विनाशयति, तदेतत्सर्वं कथमुपेक्ष्यते? एवं तयोरालापं श्रुत्वा क्रुद्धा भद्रा यावत्तां मारयितुं पञ्जरान्निष्कासयति, तावत्सोड्डीय क्वापि गगने गता, शुकश्च मौनमाधाय तस्थौ।

अथैकदा भूदेवाभिधः कश्चिन्नैमित्तिकस्तत्रागतः, तदा तेन तापसेन पृष्टं, भो भूदेव! अस्मिंस्ताम्रचूडे को गुणो विद्यते? तेनोक्तं य एतस्य चूडामश्नाति सप्तदिनमध्ये नूनं राज्यं प्राप्नोति। इति श्रुत्वा हृष्टस्तापसस्तं भूदेवं विसृज्य भद्रां प्रति प्राह, हे भद्रे! एतस्य कुर्कुटस्य चूडायुक्तं मांसं मे भोजनाय देहि? तत् श्रुत्वा भद्रोवाच हे प्राणनाथ! एष ताम्रचूडस्तु श्रेष्ठिनोऽतीवप्रियोऽस्ति, तदेनं मारयित्वा पश्चात् श्रेष्ठिनेऽहं किमुत्तरं यच्छामि? तापस उवाच हे प्रिये! यदि ते मया सह कार्यं स्यात् तदैनं मारयित्वा मे भोजय, नो चेदहं यास्यामि। तत् श्रुत्वा तया पापिन्या स कुर्कुटो मारितः, तस्य मांसं च पाचितम्।

इतः स तापसोऽपि स्नानार्थं सरसि गतः। तस्मिन् समये

लेखशालातः समागतेन सागरचन्द्रेण मातुरग्रे भोजनं याचितं, तयोक्तं भो पुत्र! शीतान्नं किमपि नास्ति, परमिदं मांसं पाचितमस्तीत्युक्त्वा तया तस्मै स्तोकं तन्मांसं दत्तं। तन्मध्ये कुर्कुटस्य चूडापि समागता, सागरचन्द्रेण च सा भक्षिता। ततः सोऽपि द्रुतं लेखशालायां गतः।

अथ स्नानार्चाध्यानस्मरणादि कृत्वा स तापसो गृहे समागत्य सहर्षो यावद्भोक्तुमुपविष्टस्तावत्तन्मांसमध्ये कुर्कुटस्य चूडामपश्यन् रुष्टो भद्रां प्रति प्राह, हे प्रिये! सा चूडात्र कथं न दृश्यते? तयोक्तं भो प्राणेश! पुत्रं विनैतत्केनापि भक्षितं नास्ति। तत् श्रुत्वा क्रुद्धस्तापसो भद्रां प्रति प्राह, हे सुभगे! अथ चेत्तव मया सह कार्यं तदा त्वत्पुत्रस्योदरं विदार्य मां तां चूडां ततो निष्कास्य देहि? अन्यथाहं गमिष्यामि। तयोक्तं हे प्रिय! एतन्निन्दास्पदमसमञ्जसं कार्यमहं कथं करोमि? ततस्तस्य तापसस्य महताग्रहेण कामविह्वलचित्तया तया तदपि प्रतिपन्नम्। एनं वृत्तान्तं श्रुत्वा तत्र स्थितया गोमत्याख्यया धात्र्या विचारितमहो मदनातुरेयं कुलटैतदप्यकार्यं करिष्यति। यतः—

अहो नारीचरित्रं तु, नूनं हृद्घटनातिगम् ।
ब्रह्मापि नैव जानाति, मानवानां तु का कथा ।।५८।।

आसन्नमेव ललना भजते मनुष्यं, विद्याविहीनमकुलीनमसंस्तुतं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च, पार्श्वस्थमेव सततं परिवेष्टयन्ति।।५९।।

नितम्बिन्यः पतिं पुत्रं, पितरं भ्रातरं क्षणात् ।
आरोपयन्त्यकार्येषु, रक्ता हि प्राणसंशये ।।६०।।

अतो नूनमेषा पुत्रस्य विनाशं करिष्यति, इति ध्यात्वा द्रुतं सा लेखशालायां गत्वा सागरदत्तं च कक्षायामारोप्य षष्ठे दिने चम्पानगर्या उपवने गता।

इतश्च तत्र नगर्यामपुत्रो राजा मृतः, तेन सचिवादिभिर्मिलित्वा पञ्चदिव्यान्यधिवासितानि। तानि च यत्रोपवने स सागरदत्तः सुप्तोऽभूत् तत्र गतानि। गजेन जलपूर्णकलशेन सोऽभिषिक्तः, अश्वेन हेषारवः कृतः। तदा सचिवादिभिर्मिलित्वा स सागरदत्तश्चम्पानगर्या राज्ये स्थापितः, *धात्रीवाहन* इति च तस्य नाम कृतम्। अथासौ सामन्तादिभिः सेव्यमानो बन्दिभिश्च स्तूयमानः सुखेन राज्यं पालयामास।

इतस्तेन तापसेन सह विलसन्त्या तया दुष्टया भद्रया सर्वमपि धनं विनाशितं, दास्यादिः सर्वोऽपि परिवारः स्वस्थानं गतः, हर्म्यादि पतितम्। एवं कतिचिद्वर्षानन्तरं श्रेष्ठी स्वकार्यं कृत्वा गृहमायात इतस्ततो विलोकयामास, पुत्रादिकमदृष्ट्वा च तेन भार्यायै पृष्टं, परं तयोत्तरं न दत्तम्। तदा श्रेष्ठिना शुकं प्रति पृष्टं, भो शुकराज! मम गृहस्यैवंविधावस्था कथं दृश्यते? सत्यं कथय, तदा शुक उवाच भो श्रेष्ठिन्! प्रथमं त्वं मां पञ्जरान्निष्कासय? यथा ते सकलं वृत्तान्तं निवेदयामि। श्रेष्ठिनापि तथा कृतं, ततोऽसावुड्डीय गृहाङ्गणस्थवृक्षोपरि स्थित्वा श्रेष्ठिने सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास। ततो दूनः श्रेष्ठी स्वभार्यायाः सकलं दुश्चेष्टितं विज्ञाय संसाराद्विरक्तीभूय गुणसुन्दरसूरेः समीपे गत्वा दीक्षां जग्राह। शुकोऽपि स्वशापसमयं व्यतिक्रम्य पुनर्देवत्वं लब्ध्वा धरणेन्द्रसभायां गतः। अथ स मुनिरपि पञ्चसमितित्रिगुप्तियुतः शास्त्राध्ययनतत्परो नानातपःप्रभावाल्लब्धानेकलब्धियुतो भव्यजीवान् प्रतिबोधयन् भूमौ विजहार।

इतस्तौ दुष्टौ भद्रातापसौ लोकापवादभयाद्राजगृहान्निर्गत्य स्थाने स्थाने लोकैर्निन्द्यमानौ भ्रमन्तौ कतिचिद्दिनैः क्रमेण चम्पानगर्यां प्राप्तौ। तत्र क्वचित्पाटककोणे एकं कुटीरकं कृत्वा तौ द्वौ स्थितौ। भद्रा च तत्र परगृहजलेन्धनखण्डनादिकार्यैराजीविकां करोति, तापसोऽपि कस्यचिद्धनिनो गृहे कृषिकर्म करोति।

इतश्च स मुनीशोऽपि विहरन् क्रमेण तत्रैव नगरे समागतो भिक्षार्थमटन् भद्राया एव गृहे गतस्तयोपलक्षितः। तदा तया दुष्टयेति चिन्तितमहोऽयं मे भर्ता चेन्मम चरित्रं लोकानामग्रे कथयिष्यति तदा ममात्रापि वसनं दुःखदायकं भविष्यति। इति ध्यात्वा तयाहारमध्ये प्रच्छन्नं स्वीयैका स्वर्णमुद्रिका मुनये दत्ता। ततो मुनेर्गृहाद्बहिर्गमनानन्तरं तयेति पूत्कृतं, भो लोका! द्रुतं समागच्छत? अनेन मुनिवेषधारिणा तस्करेण मम स्वर्णमुद्रिका गृहीतास्ति। तत् श्रुत्वा बहवो लोकास्तत्र मिलिताः, तलारक्षोऽपि समागतः, ततस्तेन मुनेरुपकरणादि विलोकितं, तदाहारमध्ये तां मुद्रिकां दृष्ट्वा तलारक्षस्तं मुनिं बद्ध्वा चतुष्पथे समानयत्।

इतो गवाक्षस्थया तया गोमत्या धात्र्या स उपलक्षितः, तदा महता शब्देन रुदनं कुर्वन्ती सा राज्ञः समीपे गता। तदा राज्ञा पृष्टं भो मातः! किमर्थं त्वया रुदनं क्रियते? तयोक्तं हे पुत्र विडम्ब्यमानोऽयं तव तातोऽस्ति, तत् श्रुत्वा विस्मितो राजा हृदि दुःखं वहन् द्रुतं मुनेः पार्श्वे गत्वा तं बन्धनान्मोचयित्वावन्दत। ततो गोमत्या सर्वोऽपि पूर्ववृत्तान्तो मुनिसमक्षं राज्ञे निवेदितः, तदा क्रुद्धेन राज्ञा तौ भद्रातापसौ स्वदेशान्निष्कासितौ, मुनिश्च सन्मानपूर्वकं तत्रैव विज्ञप्य राज्ञा चातुर्मासं रक्षितः।

ततो राजा प्रत्यहं मुनेः पार्श्वे व्याख्यानं शृण्वन् सम्यक्त्वमूलद्वादशव्रतानि गृहीत्वा स्वदेशेऽमारीपटहोद्घोषणां कारयामास। तथैव मुनेरुपदेशेन तेन तत्रानेके जिनप्रासादाः कारिताः, दानशालादीनोद्धरणसाधर्मिकवात्सल्यादि च कृतम्। एवंविधं श्रीजिनदर्शनप्रभावं दृष्ट्वा केचिद्दुष्टाः पाखण्डिका मुनेरुपरि द्वेषं धारयामासुः। तैश्च मिलित्वैकगर्भवतीमातङ्ग्यै प्रोक्तं, चेत्त्वमस्य मुनेरुपरि कलङ्कं दास्यसि तदा वयं तुभ्यं रुक्मपञ्चशतं दास्यामः, तदा तयापि धनं गृहीत्वा

तत्प्रतिपन्नम्। अथ चातुर्मासानन्तरं स मुनीशोऽपि ततो विहृत्य नगराद्-बहिरुद्याने समागतः, तत्र च तेन दीयमानां धर्मदेशनां राजादयः सर्वेऽपि पौराः शृण्वन्ति।

इतः सा मातङ्गी तत्रागत्य तं साधुं प्रति जगाद, भो मुने! अधुना त्वं क्व गच्छसि? त्वयोत्पादितगर्भाहमासन्नप्रसवास्मि, मम पार्श्वे च किञ्चिद्द्रव्यादिकं नास्ति, तेनाहमथ किं करिष्यामि? तत् श्रुत्वा राजादयः सर्वेऽपि लोकाः विषादपराः परस्परं विलोकयामासुः। तदा मुनिना चिन्तितमहो केनचिद्दुरात्मना श्रीजिनशासनस्योन्नतिं दृष्ट्वा द्वेषेणेत्थं कृतमस्ति। इति ध्यात्वा स महात्मा प्राह भो मुग्धे! त्वमेतादृशमसमञ्जसं कथं जल्पसि? कूटभाषणेन च तव महत्पापं भविष्यति, आगामिनि भवे च तव नरकपातो भविष्यति, एवं बहुधोक्तापि सा प्रत्युत्तरं न ददौ। तदा मनसि मनाक् क्रुद्धः साधुरुवाच अरे दुष्टे! चेदयं तव मदीयो गर्भस्तदा तेऽधुनैवात्र योनिमार्गेण प्रसूतिर्भूयात्, अन्यथा तूदरं द्विधाभूय गर्भप्रसूतिर्भूयात्। एवं क्रोधावेशेन तेन मुनिनापि तदेत्यश्राव्यं वाक्यमुक्तम्।

अथ तदैतस्या उदरं स्फुटितं, तन्मध्याच्च गर्भो भूमौ पपात। मातङ्ग्यपि मूर्च्छिता सती भूमौ पपात। घटिकाद्वयानन्तरं च सा चैतन्ययुक्ता बभूव। लोका अपि सर्वे तदाश्चर्यं वीक्ष्य चिन्तयामासुर्नूनमेतत्केनापि दुष्टात्मना कपटं कृतं विलोक्यते। ततो राज्ञा तां मातङ्गीं प्रति प्रोक्तं अरे दुष्टे! त्वं सत्यं वृत्तान्तं निवेदय? तवाहमभयं दास्यामि, नो चेत्तव प्राणान् हरिष्यामि। तदा भयकम्पितशरीरया तया प्रोक्तं हे राजन्नत्र विषये मदीयं किञ्चिदपि दूषणं नास्ति, एभिः पाखण्डिभिर्मे रुक्मपञ्चशतं दत्तमस्ति, तैः प्रेरितया च मया लोभाभिभूतयैतत्कपटं कृतमस्ति। तत् श्रुत्वा भयभीतास्ते पाखण्डिनस्तं मुनीश्वरं पुनः पुनर्नत्वा विज्ञपयामासुः, भो महात्मन्नस्माकमेनमपराधं क्षमस्व? वयं तु निर्भाग्या

अकृतपुण्याः स्मः, त्वं तु जीवरक्षापरोऽसि।

अथ राजातीवक्रुद्धस्तान् सर्वान् वधायादिशत्, परं दयालुना मुनिना विज्ञप्तो राजा तान् सर्वान् जीवत एव स्वदेशान्निष्कासयामास। एवं जिनशासनस्यातीवप्रभावनां विधाय मुनीशोऽप्यन्यत्र विजहार। प्रान्ते च स वैभारगिरौ मासिकीं संलेखनां विधाय मृत्वा सुरोऽभवत्। तत्र च देवसुखानि भुङ्क्त्वा महाविदेहे स मोक्षं यास्यति।

एवं भो श्रेष्ठिन्! यथा तेन महात्मना मुनिना स्वकलङ्कः क्रोधेनापि दूरीकृतस्तथाहमपि करिष्यामि। तत् श्रुत्वा भयभीतः श्रेष्ठिपुत्रः स्वजनकं कुञ्चिकश्रेष्ठिनं प्रत्युवाच भो तात! त्वं मुधामुं साधुं कुतः खेदयसि? अयं हि निर्लोभो निर्ग्रन्थोऽस्ति, येन हि परकीयं वस्तु तृणवद् ध्यात्वा स्वकीयमपि राज्यादि त्यक्तमस्ति, स हि तावकं धनं कथं गृह्णीयात्? पुनरयं महाव्रततपःप्रभावादनेकलब्धि-युतोऽस्ति, चेदयं महात्मा क्रुद्धो भवेत्तदावयोरपि नमुचिवन्निधनमेव स्यात्। तत् श्रुत्वा कुञ्चिकेनोक्तं हे पुत्र! कोऽसौ नमुचिः? पुत्र उवाच-

(३१) नमुचिमन्त्रिणः कथा

पूर्वं श्रीमुनिसुव्रतस्वामितीर्थे उज्जयिन्याख्या महानगर्यासीत्। तत्र धर्मसेनाख्यो राजा राज्यं करोति स्म, स च न्यायी सरलमति-धर्मज्ञश्चासीत्। तस्य च नमुचिः नामा बुद्धिमान् सचिवोऽभूत्, परं स कुटिलाशयो बहुलसंसारी जैनधर्मपराङ्मुखश्चासीत्। एकदा तत्र बहुशिष्यपरिवारान्विताः श्रीसुव्रताचार्याः समवसृताः। तेषां वन्दनार्थं राजादयः पौरा हृष्टाः सन्तस्तत्र गताः। ततस्तेषां धर्मदेशनया तत्रानेके जीवाः प्रतिबोधं प्राप्ताः। तदा तेन दुष्टेन नमुचिना तत्र नास्तिकवादस्य प्ररूपणा कृता, परमेकेन क्षुल्लकेण वादे पराजितोऽसौ मनसि क्रुद्धः

स्वधाम जगाम। रात्रौ च खड्गमादाय मुनिवधार्थमुपाश्रये गतोऽसौ शासनदेवतया द्वाराग्रे एव स्तम्भितः। ततः प्रभाते राजा गुरुवन्दनार्थमागतस्तं नमुचिं खड्गहस्तं तत्र स्तम्भितं दृष्ट्वा तस्य दुश्चेष्टितं च विज्ञाय स्वदेशाद्बहिर्निष्कासयामास। एवं स स्थाने स्थाने निन्द्यमानः क्रमेण भ्रमन् हस्तिनागपुरे प्राप्तः।

तत्र नगरे पद्मोत्तराभिधो राजा राज्यं करोति स्म, तस्य ज्वालादेव्याख्या च राज्ञ्यासीत्। सा च जिनशासनप्रभाविका देवगुरुधर्मे भक्तिपरायणा सम्यक्त्वशीलाद्यलङ्कारैरलङ्कृताभूत्। अपरा च तस्य लक्ष्मीनाम्नी राज्ञी मोहमूढा मिथ्यात्वप्रसक्तासीत्। उक्तं च—

मिथ्यात्वेनालीढचित्तो नितान्तं, तत्त्वातत्त्वं जानते नैव जीवः ।
किं जात्यन्धः कुत्रचिदात्मरूपं, रम्यारम्यं पश्यति दर्पणेषु ॥६१॥

सापि ब्रह्मभक्तिपरा पतिचित्तानुगा पतिवल्लभासीत्। क्रमेण ज्वालादेव्या विष्णुकुमारमहापद्माख्यौ सुतौ जातौ, क्रमेण तौ महापराक्रमिणौ बुद्धिमन्तौ यौवनोपेतौ च परिज्ञाय राजा स्वमनस्येवमचिन्तयत्, अथाहमेतौ रूपसौन्दर्यशालिनौ पुत्रौ यौवराज्ये स्थापयामि, इति ध्यात्वा तेन विष्णुकुमाराय कथितं, हे पुत्र! अथ त्वं यौवराज्यं गृहाण? तेनोक्तं हे तात! अनेनासारेण राज्येनाहं किं करोमि? अहं तु दीक्षां ग्रहीष्यामि। तदा राज्ञा महापद्मकुमाराय यौवराज्यपदं दत्तम्।

इतस्तस्य महापद्मकुमारस्य नमुचिर्मिलितः, तदा महापद्मेनापि स सन्मानपूर्वकं सचिवत्वे स्थापितः। अन्यदा स नमुचिर्महापद्माज्ञया ससैन्यः कस्यचिद्दुर्धरस्य पल्लीपतेरुपरि गतः, तत्र च रणाङ्गणे तं पल्लीपतिं जित्वा बद्ध्वा च महापद्माय समर्पयामास। तदा सन्तुष्टेन महापद्मेन तस्मै वरयाचनकृते प्रोक्तं, तेनोक्तमहमवसरे याचिष्ये।

अथैकदा तया ज्वालादेवीराज्ञ्या जलयात्रार्थं जैनो रथो निर्मापितः, स च रथो नानारत्नादिभिरलङ्कृतो बहिर्वाटिकायां गत्वा पुनरपि नगरप्रतोल्यां समागतः। तस्मिन्नेव समये लक्ष्म्यापीर्ष्यया ब्रह्मणो रथः कारितः, सोऽपि तथैव बहिर्गत्वा पुरप्रतोल्यामागतः। इतः प्रथमप्रवेशकृते तयोर्विवादो जातः, तदा राज्ञा तौ द्वावपि रथौ निवार्य वनमध्ये वाटिकायामेव स्थापितौ। एवं स्वमातुरपमानं ज्ञात्वा महापद्मकुमारो हृदि दून एकाक्येव देशान्तरं गतः। तत्र क्रमेण स षट्खण्डमण्डितं क्षोणिमण्डलं साधयित्वा चक्रिपदं च संप्राप्य पुनरपि गजपुरं प्राप्तः, पित्रापि महोत्सवेन तस्य पुरप्रवेशः कारितः। ततोऽनेकैर्नृपैर्मिलित्वा तस्य चक्रित्वाभिषेकः कृतः।

इतः श्रीसुव्रताचार्या बहुशिष्यपरिवृतास्तत्र नगरे समवसृताः, राजादयः सर्वेऽपि पौरास्तेषां वन्दनार्थं तत्र समागताः, सूरिभिरपि तेभ्यो धर्मदेशनां दत्ता। तदा प्रतिबोधं प्राप्तौ तौ पद्मोत्तरनृपविष्णुकुमारौ तेषां समीपे दीक्षामङ्गीचक्रतुः। पद्मोत्तरराजर्षिस्तु निरतिचारं व्रतं प्रपाल्य प्रान्ते कालं कृत्वा [1]सुरालये ययौ। विष्णुकुमारमुनेस्तु षट्सहस्र-वर्षाणि चारित्रं पालयतः सतस्तीव्रतपःप्रभावादनेकलब्धयः समुत्पन्नाः। अन्यदा तेन गुरुं प्रति विज्ञप्तं, हे भगवन्! चेद्भवदीयाज्ञा तदाहं मेरुचूलायां गत्वा कायोत्सर्गं कुर्वे। गुरुणापि तं तथा कर्तुं योग्यं मत्वादेशो दत्तः,तेन सोऽपि निजलब्धिशक्त्या तत्र गत्वा कायोत्सर्गं व्यधात्।

अत्र श्रीमहापद्मचक्रिणापि प्रतिग्रामं जिनप्रासादैर्मण्डिता मही कृता। जिनेशरथयात्रामपि महोत्सवपूर्वकं कृत्वा तेन स्वमातुर्मनोरथः पूरितः। अथैकस्मिन् दिने तेन नमुचिसचिवेन राज्ञे प्रोक्तं हे स्वामिन्! पूर्वं प्रतिपन्नो वरः साम्प्रतं मे दीयतां? चक्रिणोक्तं त्वं सुखेन मार्गय?

---

1. परमपदमिति त्रिषष्ठौ. पर्व ६ सर्ग ८ श्लोक १३८ ।

तेनोक्तं हे प्रभो यज्ञार्थं [1]कार्तिकमासपर्यन्तं मे राज्यं देहि? एवं च मासैकपर्यन्तं त्वयान्तःपुरे एव स्थेयं, कस्यापि वचनं न श्रोतव्यम्। तत् श्रुत्वा स्ववचनबद्धेन राज्ञापि तथा कृतम्। इतस्तस्मिन्नेव वर्षे श्रीसुव्रताचार्याः परिवारयुता नृपाग्रहतस्तत्रैव पुरे चतुर्मासीं स्थिता आसन्। ते साधवश्च तत्र विविधतपांसि कुर्वन्ति।

अथ तत्र स्थितान् सपरिवारानाचार्यान् ज्ञात्वा स दुष्टो नमुचिः पूर्ववैरं स्मरंस्तेभ्यः कथयामास, भो मुनयः! सर्वेऽपि लिङ्गिनो ममात्र यज्ञमहोत्सवे मदभ्यर्णे समेत्य मां सेवन्ते, तदा यूयं सपरिवारा मदभ्यर्णेऽपि कथं न समागच्छथ? अतोऽत्र मद्भूमौ सप्तदिनानन्तरं भवद्भिर्न स्थेयं, चेदत्र स्थास्यथ तदा युष्मान् सर्वानप्यहं मारयिष्यामि। सूरिभिरुक्तं भो सचिव! चातुर्मासान्तः साधवोऽन्यत्र विहारं न कुर्वन्ति, तेन चातुर्मास्यां पूर्णायां वयं तव भूमिं त्यक्त्वान्यत्र गमिष्यामः, एवं सूरिभिरुक्तेऽपि द्वेषिणा तेन तन्न स्वीकृतम्। अथैवंविधं सचिवान्यायं ज्ञात्वा चक्रवर्त्यप्यतीवखेदं प्राप्तः, सर्वः सङ्घोऽपि शोकातुरो मिलित्वा सूरीन् विज्ञपयामास, हे प्रभो! अथात्र कोऽप्युपायो यदा विधीयते तदा वरम्। यतः आगमे –

जिणसासणस्स कज्जे, चूरेइ जइ चक्कवट्टिसेणंपि ।
न करंतो रिसिरायो, अणंतसंसारिओ होइ ।।६२।।

एवंविधं सङ्घवचनं श्रुत्वा सूरयो जगुः, हे भव्याः! एतादृशस्तु विघ्नशान्तिकरः सम्प्रति राज्ञो भ्राता विष्णुकुमारोऽस्ति, स चाधुना मेरुचूलायां स्थितोऽस्ति। तदा सङ्घेन पृष्टं हे भगवन्नत्रास्ति कोऽपि तादृशो विद्यावान् मुनिर्यो मेरुचूलायां गमने समर्थो भवेत्? तदैको मुनिः प्राह हे भगवन्! तत्र गमने मम शक्तिरस्ति, परं ततः पश्चादागमने मे शक्तिर्नास्ति। सूरिभिरुक्तं तर्हि हे वत्स! त्वं तत्र गत्वा विष्णुकुमारायैनं

1. यज्ञावधि इति त्रिषष्ठौ ६-८-१४५

वृत्तान्तं निवेदय? महालब्धिमांस्त्वामप्यत्रानयिष्यति।

अथैवं गुरुभिरनुज्ञातः सङ्घकार्यकृते स मुनिर्गगनाध्वना द्रुतं विष्णुकुमारमुनेः पार्श्वे गत्वा नत्वा च सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास। तदा विष्णुकुमारमुनीशोऽपि स्ववैक्रियलब्ध्या द्रुतमेव तं मुनिमादाय तत्रागत्य सूरीन्ननाम। तं समागतं दृष्ट्वा सङ्घोऽपि हर्षपूर्णो जज्ञे। ततो गुर्वाज्ञया विष्णुकुमारमुनिर्नमुचेः पार्श्वे राजसभायां गतः, तदा नमुचिं विना सर्वैरपि सभास्थितैर्जनैः सन्मानपूर्वकं वन्दितः। तदा स मुनिर्मनसि मनाक् क्रुद्धः सन्नमुचिं प्रत्युवाच हे नृपाधम! अद्यापि चातुर्मासी संपूर्णा जाता नास्ति, तेन साधूनां वासार्थं त्वं स्थानं देहि? तेनोक्तं केवलं त्रिपदीमात्रामेव महीं तेषां निवासार्थं दास्यामि, अधिकां नैव दास्यामि। तदा क्रुद्धेन मुनिना चिन्तितमहोऽयं दुष्टः शिक्षार्ह एवास्तीति ध्यात्वा तेन स्ववैक्रियलब्धितो लक्षयोजनमानं स्वरूपं विकुर्वितं, पूर्वापरसमुद्र-मेखलायां च स्वकीयौ द्वौ पादौ स्थापितौ। तदा कुलपर्वता अपि चकम्पिरे, अचलापि चलितुं लग्ना, समुद्रोऽप्युच्छलत्कल्लोलैर्मर्यादां तत्याज, देवलोकेषु देवा अपि महाक्षोभं प्राप्ताः। ततो विष्णुकुमारमुनिना नमुचये प्रोक्तं अरे दुष्ट! अथाहं तृतीयं पादं (क्व) मुञ्चामीत्युक्त्वा तेन तस्यैव मस्तके तृतीयः पादो मुक्तः, तेन च स मृत्वा तस्य शरीरं पाताले प्रविष्टम्। ततश्च लोके वामनावतारः प्रसिद्धो जातः।

इतः शङ्कितेनेन्द्रेण स्वावधिज्ञानतस्तत्सर्वं दृष्टं, तदा स मुनिकोपशान्तये निजाप्सरोगन्धर्वादींस्तत्र मुमोच। तैश्च तत्र समागत्य शान्तरसोपेतगानपूर्वकं मुनेः कोपस्य शान्तिः कृता। यतः--

परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशने तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥६३॥

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाहिं पुव्वकोडीहिं ।
तंपि हु कसायमित्तो, हारेइ नरो अंतमुहुत्तेणं ॥६४॥

अथैवं शान्तरसैरुपशान्तक्रोधो विष्णुकुमारमुनिः स्वं वैक्रियं रूपं संहृत्य सूरीणां समीपे समागत्यालोचनां व्यधात्। महापद्मनृपोऽपि द्रुतं तत्रागत्य विनयनतः स्वापराधं क्षामयामास। ततो विष्णुकुमार-मुनिरपि शुद्धमनसा चारित्रमाराध्य शिवं ययौ।

एवं हे तात! अयमपि मुनिर्महालब्धिवानस्ति, ततो लब्धिवशाद्य-त्किञ्चिदयं चिन्तयिष्यति तत्सर्वं कर्तुमयं समर्थो भविष्यति, यथा श्रीआर्यरक्षितसूरिगच्छे घृतपुष्पवस्त्रपुष्पाख्यौ लब्धिवन्तौ शिष्यावभूताम्। तत्र घृतपुष्पमित्रस्य साधोरीदृशी लब्धिरासीत्।

(३२) घृतपुष्यवस्त्रपुष्यमुनयोः कथा

यथासौ द्रव्यतो भिक्षया घृतमुत्पादयति, क्षेत्रतो यत्र घृतं दुष्प्राप्यं भवेदेवंविधादवन्त्यादिदेशतोऽपि स भिक्षया घृतमधिगच्छति। कालतो ज्येष्ठाषाढमासयोरपि स दुष्प्राप्यं घृतं भिक्षया प्राप्नोति। भावतस्त्वेवं ज्ञेयं काचिद् गर्भिणी ब्राह्मणी भवेत्, तस्या भर्त्रा तत्प्रसूतिकालार्थं षड्भिर्मासैर्याचित्वा स्तोकं स्तोकं कृत्वा यद्घृतं सञ्चितं भवेत्, तद् दुष्प्राप्यं घृतमपि स भिक्षया प्राप्नोति, एवं स स्वलब्धिप्रभावतः स्वसकलगच्छस्यार्थं घृतं प्राप्नोति। वस्त्रपुष्यमित्रसाधुस्तु द्रव्यतो वस्त्रं प्राप्नोति, क्षेत्रतो विदेहदेशे मथुरायां वा वस्त्रं लभते, कालतो वर्षाकाले शीतकाले वा वस्त्रं लभते, भावतस्त्वेवं ज्ञेयं, यथा कयाचिद् दारिद्र्यपराभूतया वृद्धया विधवयातिदुःखेन स्तोकं स्तोकं सूत्रं कर्तयित्वा स्वशीतापनोदार्थं या शाटिका निष्पादिता भवेत्, तां शाटिकामपि चेत् स वस्त्रपुष्यमित्रसाधुस्तस्यै याचेत, तदा सातीवहृष्टा सती तां तस्मै दद्यात् तर्ह्यन्येषां धनिकादीनां का वार्ता? एवंविधा तस्य मुनेरपि लब्धिरासीत्-

एवं भो तात! अयं मुनिरपि निजतपोबलेन महालब्धिमानस्ति,

स हि कदाचिदपि ते धनं न गृह्णाति, अतोऽमुं महामुनिं मुधा त्वं मा संतापय। तदा श्रेष्ठिना स्वपुत्रस्याग्रे तन्निधानस्वरूपं कथितं, तत् श्रुत्वा पुत्र उवाच हे तात! तन्निधानं तु मयैव गृहीतमस्ति, अन्यस्थाने गृहमध्ये च स्थापितमस्ति। इतः स मुनिपतिः साधुरपि क्रोधेन मनाग् रक्तनयनोऽभूत्, तस्य शरीरात्तेजोलेश्यापुद्गलविस्तरणसमयश्च निकटो बभूव।

इतो भयभीतः श्रेष्ठी तस्य मुनेः पादौ प्रणम्य जगाद, हे भगवन्! मया दुर्बुद्धिना भवन्तो मुधैव संतापिताः, नूनं यूयं निर्दोषाः स्थ, इत्युक्त्वा स तं मुनिं पुनः पुनः क्षामयामास। तदोपशान्तचित्तः साधुरुवाच भो महाभाग! कूटकलङ्केन प्राणिनां महानर्थो भवति, चतुर्गतिसंसारार्णवे च भ्रमणं भवति।

तत् श्रुत्वा स कुञ्चिकश्रेष्ठी वैराग्यरङ्गेण तस्यैव पार्श्वे दीक्षां जग्राह। तस्य पुत्रेण च प्रौढोत्सवपूर्वकं तस्य दीक्षामहः कृतम्। क्रमेण निरतिचारं चारित्रं प्रपाल्य स कुञ्चिकश्रेष्ठी प्रान्तेऽनशनं विधाय मुनिपतिगुरुयुतः प्रथमदेवलोके ययौ। ततश्च्युत्वा तौ द्वावपि महाविदेहेऽवतीर्य मोक्षं यास्यतः। इतिशम्।।

।। इति श्रीमुनिपतिचरित्रं समाप्तम् ।।

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222